Nov. 2016
Volume I
Issue 5
E-ISSN : 2454-2717

gacc journal

Covering Researches in all fields of Humanities, Languages, Social Services, Commerce and Management

'A' Grade

THE OFFICIAL PUBLICATION OF SHRI ATAL BIHARI VAJPAYEE GOVERNMENT ARTS AND COMMERCE COLLEGE, INDORE

PATRON :

Dr. Nalini Joshi
In-charge Principal
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: nalinijoshirk@gmail.com

EDITOR IN CHIEF :

Dr. Roshan Benjamin Khan
Head, Department of English
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: roshanisuper@yahoo.co.in

EDITORIAL BOARD :

Dr. Anoop Vyas
Head, Department of Commerce
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: anoopvyas29@gmail.com

Dr. Ashwini Sharma
Professor, Department of Political Science
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: drsharmaashwini@gmail.com

Dr. Ashish Pathak
Professor, Department of Commerce
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: ashishpathakgacc@gmail.com

MAILING ADDRESS :
Shri Atal Bihari Vajpayee Government Arts & Commerce College
A.B. Road, Near Bhanwarkuan Square, Indore (M.P.)
Postal Code: 452017
email: principalgaccindore@rediffmail.com
Website: www.gaccindore.org

gacc journal
March 2016, Volume-1, Number-4

TECHNICAL ASSISTANCE :
Bhupendra Verma

INDEX

1.	डॉ. सपना चक्रवर्ती	राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों का विकास	4-6
2.	डॉ. सुलभा काकिर्डे	जनजातिय समाज में राजनैतिक चेतना का मतदान व्यवहार पर प्रभाव का समाजशास्त्रीय अध्ययन (मनावर तहसील के परवार पंचायत के संदर्भ में)	7-12
3.	डॉ. श्रद्धा मालवीय गिरीश मकवाना	धरती का संवर्धन सबकी समृद्धी	13-15
4.	डॉ. माधुरी शेरे	हिन्दी पत्रिका 'सरस्वती' में सन् 1857 का विद्रोह	16-21
5.	डॉ. सरोज अजय	भारत में बाल श्रम नीति एवं कानून	22-24
6.	डॉ. महेश गुप्ता डॉ. भारती शाह	म.प्र. में चयनित सार्वजनिक बैंकों द्वारा प्रदत्त उच्च शिक्षा ऋण की प्रभावशीलता का मूल्याकंन	25-31
7.	Dr. Roshan Benjamin Khan	BEN JONSON Intense, Bemused and Sarcastic	32-35
8	डॉ. लता जैन	वर्तमान में समाज एवं भारतीय अर्थव्यवस्था में मीडिया की भूमिका (एक चिन्तन)	36-44
9	प्रो. अलका जैन	भारत में लिंग संतुलन का अध्ययन	45-58
10	डॉ. मनीषा सिंह मरकाम	रेडियो का वर्तमान परिदृश्य	59-61
11	डॉ. (श्रीमती) सुदीप छाबड़ा	स्वास्थ्य एवं योग	62-67
12	डॉ. संगीता मेहता	आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्यिक और आध्यात्मिक अवदान	68-73
13	Dr. Alka Tomar	Where There's a Will : Reflection of contemporary prevailing Scenario in Urban Educated family	74-76
14	डॉ. सुधीर सक्सेना	Advantages & Disadvantages of E-Learning	77-79
15	डॉ. भगवतसिंह राय सरिता बडोले	''अनाथालय में निवासरत अनाथ बच्चों की स्थिति का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन'' (रायपुर छ.ग. के उपक्षेत्र माना कैम्प में स्थित शासकीय बालगृह के विशेष संदर्भ में)	80-84
16	Dr. Renu Sinha	The Metafictive, Post Modernism Concepts in the Novels of John Barth	85-87
17	डॉ. शिवा खण्डेलवाल	अहिल्याबाई होल्कर द्वारा किये गये निर्माण कार्य	88-91
18	डॉ. कला जोशी	मध्यप्रदेश की बोलियाँ – सीमाएँ एवं संभावनाएँ	92-103
19	डॉ. गीता चौधरी	मुगल कालीन मुद्रा और टकसाल व्यवस्था	104-107
20	Tanveer Hussain Rather	Role of Environmental Ethics in Islamic Perspective	108-113
21	Arif Rashid Shah	Brecht's Epic Theatre and Its Influence on Postmodern Theatre/Drama	114-123
22	Sikander Hussain Pandith	Christian Environmental Ethics	124-128

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों का विकास

डॉ. सपना चक्रवर्ती
प्राध्यापक – राजनीति विज्ञान
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

मानव अधिकार वे अधिकार हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक रूप से प्राप्त होने चाहिए। क्योंकि वह मानव परिवार का सदस्य है। मानव अधिकारों की अवधारणा का मानव गरिमा से घनिष्ठ सम्बंध है। अतएव जिन अधिकारों की मानव गरिमा को बनाए रखने के लिए आवश्यकता है उन्हें मानव अधिकार कहते हैं। इनमें से कुछ अधिकार शारीरिक जीवन तथा स्वास्थ्य से सम्बंधित हैं जबकि अन्य मानसिक जीवन एवं स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं। यद्यपि मानव अधिकारों की संकल्पना उतनी ही पुरानी है जितनी की प्राकृतिक विधि पर आधारित प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत तथापि मानव अधिकार शब्द की व्युत्पत्ति द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय चार्टरों तथा अभिसमयों के द्वारा हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास के परिणाम स्वरूप केवल राज्य ही अंतर्राष्ट्रीय के विषय नहीं रहे अपितु मानव तथा मानव अधिकार भी इसके अध्ययन का विषय हो गए हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा राज्य राजनीतिक दृष्टि से एक संगठित समाज है। समाज में मनुष्यों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ अधिकारों की आवश्यकता होती है जिनके अभाव में उसका विकास सम्भव नहीं होता।

संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों का महत्व इस कारण से है कि वे ब्रिटिश शासन व्यवस्था के 'विधि के शासन' सिद्धांत से एक कदम आगे हैं। जहाँ विधि के शासन द्वारा ब्रिटिश न्यायालय केवल कार्यपालिका को ही विधि के अनुसार आचरण करने में बाध्य करते हैं वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायपालिका न केवल कार्यपालिका को अपितु व्यवस्थापिका को भी संविधान के अनुकूल आचरण करने के लिए बाध्य कर सकती है। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति अथवा समूह विधायिका में अपने प्रभाव का दुरूपयोग करके यदि ऐसी विधि पारित कराने में समर्थ हो जाएँ जो किसी अन्य व्यक्ति के अधिकारों में कटौती करती है अथवा संविधान द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के

प्रतिकूल आचरण करती है तो व्यथित व्यक्ति न्यायालय द्वारा उस विधि को शून्य घोषित करवाकर अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान वह सर्वप्रथम संविधान है जिसमें मानव अधिकारों को संविधान में स्थान देकर उन्हें न्यायिक पुर्नावलोकन द्वारा प्रवर्तनीय भी बनाया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान द्वारा नागरिकों को जो मौलिक अधिकार प्रदान किए गए वे हैं – वाक् स्वातंत्र्य, विचार स्वातंत्र्य, धार्मिक स्वतंत्रता, संविदा करने की स्वतंत्रता, समानता, निष्पक्ष न्याय, अपराध तथा न्यायिक विचारण के बिना दण्डित न किया जाए। ये समस्त अधिकार अत्यधिक महत्वपूर्ण तथा मानव जीवन के विकास के लिए अनिवार्य है।

मानव अधिकार पद का प्रयोग सर्वप्रथत अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 16 जनवरी 1941 में कांग्रेस को सम्बोधित करते हुए अपने प्रसिद्ध संदेश में किया था जिसमें उन्होंने चार आधार भूत स्वतंत्रताओं पर आधारित विश्व की घोषणा की थी। ये थी – 1) वाक् स्वातंत्र्य, 2) विचार स्वातंत्र्य, 1) गरीबी से मुक्ति तथा 4) भय से स्वतंत्रता। राष्ट्रपति ने घोषणा की कि स्वतंत्रता के प्रत्येक स्थान पर मानव अधिकारों की सर्वोच्चता अभिप्रेरित है। हमारा समर्थन उन्हीं को है जो इन अधिकारों को पाने के लिए अथवा बनाए रखने के लिए संघर्ष करते हैं।

मानव अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण :

मानव अधिकारों के सम्बंध में सर्वप्रथम उल्लेख वैदिक साहित्य में पाया जाता है जिसमें कहा गया है ''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया''। गीता में भी ''कर्मण्येवाधिकारस्ते का सिद्धांत पाया जाता है।'' प्लेटो के दर्शन, ग्रीक तथा अन्य रोमन दार्शनिकों के ग्रंथों में मानव अधिकारों के संरक्षण का आभास पाया जाता है किन्तु उसका आधार धर्म ही था। ग्रीस नगर राज्य में विचार अभिव्यक्ति, विधि के समक्ष समानता, मत देने का अधिकार, लोकपद के लिए निर्वाचित होने का अधिकार, न्याय पाने का अधिकार अपने नागरिकों को दे रखा था। रोमन विधि में भी इस प्रकार के अधिकारों की व्यवस्था की गई थी।

इंग्लैण्ड में मानव अधिकारों के सम्बंध में व्यवस्था 1215 के मेग्नाकार्टा तथा 1988 के बिल आफ राइट्स में की गई थी।

इस प्रकार 17वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक मानव अधिकारों के दर्शन का विकास हो चुका था तथापि यह राज्यविधि तथा राष्ट्र विधि तक ही सीमित थी तथा अन्य राज्यों में उनका कोई सरोकार नहीं था। 1650 में डच दार्शनिक ग्रेशियस जिसे राष्ट्रों की विधि का जनक कहा जाता है ने मानव अधिकार को अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा विश्व व्यवस्था में लागू करने का प्रयास किया उन्होंने अपना यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि जब एक राज्य का सम्प्रभु निरन्तर अपनी प्रजा के मानव अधिकारों का उल्लंघन करता रहता है तो यह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विचारणीय प्रश्न हो जाता है। ग्रेशियस के अनुसार ऐसा निरंकुश शासक राष्ट्रों की विधि के अन्तर्गत प्रभुसत्ताधारी के रूप में अपनी शक्तियों को खो बैठता है तथा अन्य राष्ट्रों को प्राकृतिक विधि तथा राष्ट्रों की विधि के अतिक्रमण के मामले में हस्तक्षेप करना न्यायोचित होगा लेकिन इस धारणा का कोई प्रभाव नहीं हुआ क्योंकि राष्ट्रों के पारस्परिक सौजन्य के अनुसार कोई राज्य अन्य राज्य तथा उसकी प्रजा के सम्बंध में हस्तक्षेप नहीं करेगा क्योंकि यह उसका घरेलू मामला है। अन्य राज्य मानव अधिकारों के अतिक्रमण के मामले में अपनी आपत्ति प्रस्तुत कर सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

01. Agrawal, H.O., Implementation of Human Rights Convents with Special Reference to India, kitab Mahal, Allahabad, 1983.
02. Agrawal, R.S., Human Rights in Modern World, Chetana Publications, New Delhi, 1979.
03. Anderson, Sir Norman, the Minlyn lectures, Thirteen Series, Library, Law and Justice.
04. Ashjorn Eide and August Shou, (ed), International Production of Human Rights, Interscience Publishers, Stockbolm, 1968.
05. Austin, Granville, The Indian Constitution : Cornerstone of a Nation, Oxford University Press, Bombay, 1966.
06. Benarjee, D.N., Our fundamental Rights – Their Neture and Extent, The World Press, Calcutta, 1968.

जनजातिय समाज में राजनैतिक चेतना का मतदान व्यवहार पर प्रभाव का समाजशास्त्रीय अध्ययन (मनावर तहसील के परवार पंचायत के संदर्भ में)

डॉ. सुलभा काकिर्डे
सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

यूगों से जनजातिय लोग भारतीय समाज की आदिकालीन इकाई के प्रमुख मूल निवासी माने जाते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जब से केन्द्र सरकार ने इनकी परिस्थितियों एवं अलगाव की ओर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ किया, तभी से राज्य सरकारें एवं अन्य स्वयंसेवी संस्थाएँ इनके विकास एवं समाजीकरण के लिए जागरूक हुई व इन्हें मुख्यधारा से जोड़ने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किये जाने लगे ताकि सांस्कृति धरोहर को भी सुरक्षित रख सके।

स्वतंत्रता के पश्चात् जब भारत की राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन आया और एक गणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना हुई। जातीय भेदभाव को अवैधानिक घोषित किया गया। वयस्क मताधिकार के द्वारा देश के प्रत्येक नागरिक को उसके धर्म, जाति, लिंग, वंश आदि के भेदभाव को स्वीकार किये बिना राजनीति में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया तो परम्परावादी जाति व्यवस्था के बंधन ढीले पड़े। उच्च राजनैतिक पद जो अब तक उच्च जनजातियों के जन्मजात अधिकार समझे जाते थे, समाज के हर छोटे–बड़े अमीर–गरीब, उच्च और निम्न जाति के लोगों के लिए उपलब्ध हो गए। बदली हुई राजनैतिक परिस्थितियों में निम्न जातियों को राजनीति में प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ और इस नई राजनैतिक व्यवस्था में समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए उच्च जाति के लोगों को परिस्थितिवश निम्न जातियों के सहयोग और समर्थन के लिए हाथ फैलाना पड़ा क्योंकि वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था में राजनैतिक पदों का आधार प्रतियोगिता बन गया है।

मतदान करना एवं उससे संबंधित चेतना लोकतांत्रिक व्यवस्था का हृदय होती है। भारत एक विकासशील देश है, जहाँ मतदान व्यवहार व्यवस्था में मौजूद कई प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक कारकों, तत्वों, परिवत्यों एवं परिस्थितियों से प्रभावित होता है। दरअसल मतदान व्यवहार मनावैज्ञानिक तत्वों से प्रेरित एवं संवेदनशील, राजनीतिक क्रिया है जो अनेक प्रकार के आंतरिक एवं बाह्य तत्वों से प्रभावित होती है।

व्यक्ति की राजनीतिक सहभागिता का यह एक सकारात्मक कारक है। एक नागरिक होने के नाते व्यक्ति मतदान करना अपना उत्तरदायित्व समझता है तथा चुनाव के अवसर पर अधिकार का प्रयोग कर राजनीतिक में भाग लेता है।

अध्ययन एवं विषय का महत्व

भारत में जनजाति की जनसंख्या संसार में सर्वाधिक है और मध्यप्रदेश में संख्या सर्वाधिक है।

मध्यप्रदेश में आदिम जाति विकासखण्डों की कुल संख्या 459 है, जबकि जिला धार में विकासखण्ड की संख्या 13 है। यही संख्या मनावर तहसील में है। मनावर विकासखण्ड मनावर तहसील के अंतर्गत आता है। इसलिए मनावर की जनजातियों को मतदान व्यवहार का अध्ययन किया जाना आवश्यक था एवं जनजातिय समाज में राजनीतिक चेतना का मतदान व्यवहार में परिवर्तन का अत्यंत महत्व है। सफल जनतंत्र के लिए न केवल नागरिकों में राजनैतिक चेतना होना जरूरी है बल्कि उनमें राजनैतिक चेतना के साथ–साथ मतदान व्यवहार में परिवर्तन भी आवश्यक है।

अध्ययन का उद्देश्य

1. जनजातिय समाज में राजनैतिक चेतना का अध्ययन।
2. जनजातिय समाज की राजनीति में भूमिका।
3. जनजातिय समाज पर मतदान व्यवहार का प्रभाव।
4. प्रशासन में जनजातिय महिलाओं एवं युवाओं की भूमिका।
5. शिक्षा, राजनैतिक चेतना और मतदान व्यवहार में आये परिवर्तनों का अध्ययन।
6. ग्रामीण विकास के विविध कार्यक्रमों के प्रति चेतना ज्ञात करना।
7. जनप्रतिनिधियों की स्थिति, भूमिका एवं सहभागिता का विश्लेषण करना।

अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत शोध वर्णात्मक अनुसंधान पद्धति एवं अन्वेषणात्मक पद्धति प्रयोग करती है।

1. **अध्ययन क्षेत्र** – मध्यप्रदेश के धार जिले के अंतर्गत आने वाली मनावर तहसील के परवार पंचायत को अध्ययन हेतु चुना गया है। जिसके अंतर्गत तीन ग्राम सम्मिलित हैं, जिसकी सम्मिलित जनसंख्या 8000 है।
2. **निदर्शन** – अध्ययन हेतु परवार पंचायत के अंतर्गत आने वाली 3000 जनसंख्या के 50 परिवारों को सविचार निदर्शन के द्वारा चुना गया है। तीन ग्राम पंचायत में आते हैं – समाजीपुरा, पगडपुरा, परवार।
3. **तथ्यों का संकलन** – प्रश्नावली, अनुसूची, साक्षात्कार अनुसूची निरीक्षण, निदर्शन, समाजमिति का प्रयोग किया।
4. **उपकल्पना** – प्राथमिक सूचना और अनुभव के आधार पर अध्ययन विषय के विभिन्न पक्षों के संबंध में संभावित सूचनाएँ प्राप्त कर एक सामान्य अनुमान पहले ही लगा लेते हैं। इसी को उपकल्पना कहते हैं।
5. **अध्ययन में कठिनाईयाँ** – कई मतदाताओं ने साक्षात्कार देने से मना कर दिया। मतदाताओं से बात करने में घंटों इंतजार करना पड़ा। अशिक्षा का संकोच उनके हर उत्तर में झलकता है। जिसे मैंने उनके उत्तरों को हावी नहीं होने दिया।

विश्लेषणात्मक अध्ययन

1. इसमें जानने का प्रयास किया कि कितने स्त्री एवं कितने पुरूष मतदान के प्रति जागरूक हैं। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि जनसंख्या जिसमें से 52 प्रतिशत उत्तरदाता पुरूष हैं जबकि 48 प्रतिशत उत्तरदाता महिलाएँ हैं। दोनों वर्गों का लगभग बराबर ध्यान रख गया है ताकि परिणाम सही आ सके और अनुसंधान में महिला की भी भागीदारी हो सके।
2. पंचायत चुनावों में मतदाताओं का महत्वपूर्ण स्थान है। अनुसंधानकर्ता ने पंचायत चुनाव में मतदान करने वाले व्यक्तियों की शैक्षणिक स्थिति जानने का प्रयास किया है। 68 प्रतिशत उत्तरदाता शिक्षित हैं। 32 प्रतिशत उत्तरदाता अशिक्षित हैं। यह विकास का सूचक है।

3. अनुसंधानकर्ता ग्राम पंचायत के लोगों से यह जानने का प्रयास किया है कि उन्होंने मतदान में अभी तक भाग लिया है या नहीं। 84 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने हाँ में उत्तर दिया, 16 प्रतिशत ने अभी तक एक भी मतदान नहीं किया।

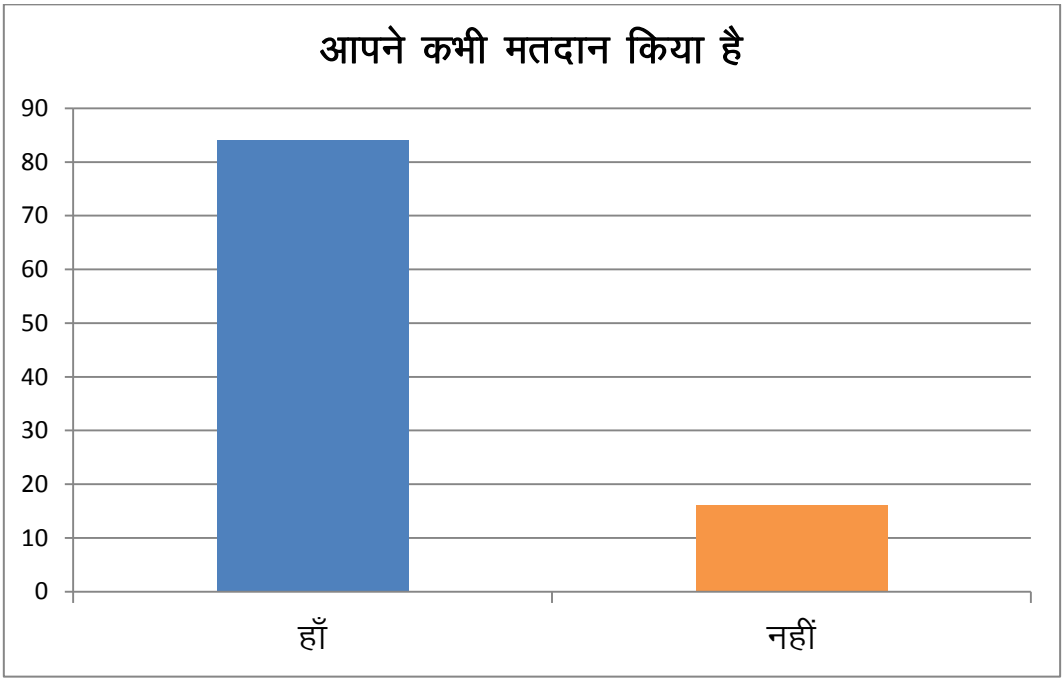

4. इस अध्ययन में ग्रामसभा के बारे में लोगों को जानकारी है या नहीं (क्योंकि गांव के विकास के लिए ग्रामसभा की जानकारी एक सशक्त माध्यम है) लेकिन 56 प्रतिशत लोगों को ही इसकी जानकारी है, 44 प्रतिशत को नहीं।
5. पंचायती योजनाओं में लोगों की भागीदारी केवल 70 प्रतिशत पाई गई। आज पंचायत को महत्वपूर्ण अधिकार है। गांव के विकास में इसका महत्वपूर्ण योगदान है लेकिन 30 प्रतिशत लोगों की भागीदारी जनजातियों में नहीं है।

उपरोक्त अध्ययन में तथ्यों का विश्लेषण करने पर महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकले –

निष्कर्ष

1. पंचायत में महिला आरक्षण के कारध सभी जातियों की महिलाओं की विकास में भागीदारी हुई है।
2. राजनैतिक चेतना के कारण उनमें सही प्रत्याशी को चुनने की समझ आती है।
3. मजदूरी करने वाली महिलाओं का प्रतिनिधित्व भी रहा अर्थात् उच्च, मध्यम एवं निम्न वर्ग की महिलाओं का प्रतिनिधित्व रहा है।

4. जनजाति में राजनैतिक चेतना के कारण उनमें अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों को जानने का मौका मिला है।
5. सभी शिक्षा स्तर अर्थात शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों प्रकार की महिलाएँ चयनित हुई हैं।
6. एकांकी एवं संयुक्त दोनों परिवार की महिलाएँ चयनित हुई हैं।
7. जनजाति में राजनैतिक चेतना के आने से मतदान व्यवहार में परिवर्तन आया है।
8. चेतना के कारण उन्हें ग्राम सभाओं में होने वाली योजनाओं के बारे में जानने का अवसर मिला है।
9. सभी महिलाएँ प्रथम बार पंचायत में चुनी गई हैं।
10. वर्तमान में पंचायत द्वारा ग्रामीण विकास में महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं और यह सब कुछ उनमें राजनैतिक चेतना एवं मतदान व्यवहार में बदलाव के कारण संभव हो सका है।

सुझाव

1. पंचायत में चयनित महिला सदस्यों को बैठक में भाग लेने पर मानदेय दिया जाये। अधिकांश महिलाएँ कामधंधे वाली हैं। मिटिंग में आने पर उनके काम का नुकसान होता है। अतः मिटिंग में रूचि नहीं दिखाती हैं। मानदेय देने पर मिटिंग में रूचि बढ़ेगी व अधिक अच्छे ढंग से अपने क्षेत्र का विस्तार कर पाएगी।
2. चुनाव में खड़े होने के लिए शिक्षा की न्यूनतम सीमा निर्धारित हो ताकि चयनित होने के पश्चात् प्रत्याशी अधिक क्रियाशील ढंग से विकासात्मक कार्य कर सके।
3. चयनित सदस्यों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था हो, ताकि वे अपने अधिकारी एवं कर्तव्यों को जान सके।
4. पंचायतों में ग्राम सभायें होनी चाहिए जिससे गांव के हर व्यक्ति को अपने गांव के विकास की जानकारी हो सके।
5. मतदान के कुछ दिन पहले मतदाताओं को मतदान व्यवहार के बारे में जानकारी देनी चाहिए, जिससे कि मतदान सही बटन दबाकर उसी व्यक्ति को मतदान करे, जिसे वह मत देना चाहता है।

उपरोक्त सुझाव से जनजाति समाज में राजैनतिक चेतना का और मतदान व्यवहार में परिवर्तन अधिक तेज दिखने लगेगा। वैसे तो अध्ययन से स्पष्ट है कि जनजाति में राजैनतिक चेतना एवं मतदान व्यवहार में परिवर्तन दिखाई दे रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. प्रो. (डॉ.) शर्मा शशि – राजनैतिक समाजशास्त्र की रूपरेखा, पी.एच.आई. लर्निंग प्रायवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2010
2. डॉ. बघेल डी. एस एवं डॉ कर्चुली टी. पी. सिंह – राजनैतिक समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2007
3. कुमारी ऐन्जला – भारत में सामाजिक असामनता, महिप बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली 2012
4. डॉ. चौहान ईश्वर सिंह एवं डॉ. शर्मा श्रीनाथ – राजनैतिक समाजशास्त्र, एस.बी.डी. पी. पब्लिकेशन हाऊस, आगरा 2010–11
5. डॉ. धर्मवीर – राजनैतिक समाजशास्त्र, राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर, 1993
6. डॉ. द्विवेदी एवं डॉ. राधेश्याम – मध्यप्रदेश पंचायत राज अधिनियम, 1993
7. डॉ. शिवकुमार तिवारी – मध्यप्रदेश के आदिवासी, 1984

धरती का संवर्धन सबकी समृद्धी

डॉ. श्रद्धा मालवीय
सहा. प्राध्यापक समाजशास्त्र
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

गिरीश मकवाना
पी.एच–डी. रिसर्च स्कोलर (समाजशास्त्र)
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

प्रस्तावना –

झाबुआ जिले में धरती के संवर्धन को लेकर आदिवासियों के साथ जागरूकता अभियान चलाया जा रहा है। जिसे 'शिवजी का हलमा' नाम से जाना जाता है। हमारे देश की अधिकांश जनसंख्या गांवों में निवास करती है। अगर हम गांवों में जाकर देखें तो गांवों में रहने वाले ग्रामीणों और आसपास रहने वाले जनजातियों के मध्य मधुर सम्बंध नहीं थे। ग्रामीण समाज इन्हें लुटेरे मानते थे परन्तु इस अभियान ने इनके आपसी मधुर सम्बंध बनाये।

शिवजी का हलमा वास्तव में धरती की उर्वराशक्ति को बढ़ाने का अभियान है। इससे पांच 'ज' में समृद्धी होती है। जनजाति, जल, जमीन, जानवर, जागृति इस प्रकार ये सभी समृद्ध हैं तो कोई भी ग्रामीण और जनजाति बेरोजगार और दुःखी नहीं रह सकता।

क्यों करते हैं शिवजी का हलमा

वास्तव में शिवजी का हलमा क्या होता है। मई–जून में आसपास के ग्रामीण और जनजाति आपस में मिलकर शिवजी के सामने एक प्रतिज्ञा लेते हैं कि जितना पानी हम उपयोग करेंगे उसका दूगना राकेंगे और पेड़ लगायेंगे।

इस अभियान को झाबुआ जिले में चलाने वाले श्री महेश शर्मा जी बताते हैं कि उन्होंने यह कार्य 35 वर्ष की उम्र से आसपास के गांवों में जाकर शुरू किया आज यह कार्य करते हुए उन्हें 30 वर्ष हो चुके हैं।

पानी को रोकने का तरीका भी गजब है जिसे ही शिवजी का हलमा कहा है। जिस समय जनजाति एकत्र होते हैं वह स्थान और समय तय रहता है।

यहाँ सभी जनजाति अपने फावड़े–गेती स्वयं लाते हैं, कोई ठेकेदार नहीं होता। भील–भीलाला एकत्र होकर पहाड़ों की चोटी से दो इंच गहरे गढ्ढे, दो इंच चौड़े इस प्रकार नाली बनाते हुए गोलाई से नीचे उतरते जाते हैं। यह पानी रोकने का बहुत ही अच्छा तरीका है। ग्रामीण बताते हैं कि पहले जब बारीश होती थी तो पहाड़ी टीलों से पानी बहकर नीचे बह जाता था।

इस शिवजी का हलमा कार्यक्रम से पानी धीरे–धीरे जमीन में उतरता है और पानी का जल स्तर बढ़ता है और व्यर्थ बहता नहीं है। इस प्रकार से पानी धीरे–धीरे धरती में जाने से यहाँ का ''नेता की तालाब'' और ''खुड़ा'' जैसी जगह में पानी भरने लगा है और तालाब में कमल खिल रहे हैं।

ग्रामीण कहते हैं कि पहले यहाँ बच्चे क्रिकेट खेलते थे। अब यहाँ पानी होने से जानवर, जमीन, जल, जनजाति और जागृति सभी में वृद्धि हुई है।

ग्रामीण बताते हैं कि पहले जिनके पास कुँए होते थे वे ही गेहूँ उगाते शेष बाहर से लोकर खाते थे।

फिर धीरे–धीरे सभी गेहूँ उगाने लगे बोरिंग करने लगे तो पानी का स्तर निचे उतरने लगा। इस अभियान और कार्यक्रम के आने से जल के स्तर में वृद्धि हुई है।

इस अभियान की मुख्य बात तो यह कि ग्रामीण बताते हैं कि जनजातियों की उर्जा ओर हमारे सहयोग से ये कार्यक्रम चलता है। वे इस कार्यक्रम में निस्वार्थ भाव से सेवा करते हैं और हम उनके जलपान–भोजन की व्यवस्था करते हैं। इससे छूआछूत समाप्त हुई है। जिससे हमारे और उनके सम्बंध भी सुधरे हैं। इस शिवजी का हलमा में जनजाति नालियाँ बनाते हैं और अपनी ओर से 200 रू. सभी जनजाति जनसहयोग भी करते हैं। जबकि अधिकांश व्यक्ति मजदूरी करते हैं। इनके बच्चे पढ़ाई के साथ–साथ इस कार्य से भी जुड़े हैं।

यहाँ श्री महेश शर्मा जी ने इनके बच्चों के लिए ट्रेनिंग प्रोग्राम की भी व्यवस्था की है। जिसमें आई.आई.टी. मुम्बई, आई.आई.टी. कानपुर, आई.आई.एम. इन्दौर, अहमदाबाद आदि के छात्र ट्रेनिंग लेने और देखने आते हैं कि जल का स्तर किस प्रकार बढ़ाया जाता है। इसके लिए ये छात्र 20 से 30 दिन यहाँ रूकते हैं और अध्ययन करते हैं साथ ही ग्रामीण छात्रों को उद्यमिता के बारे में जानकारी देते हैं।

यहाँ के एक जनजाति छात्र ने एक कुटीया (मकान) इस प्रकार बनाई जिस पर 40 लोग एकसाथ उस पर खड़े हो जायें तब भी वह नहीं टूटेगी। यह कुटीया (मकान) मात्र बीस हजार रू. में बन जाती है। यहाँ के लोग सोलर एनर्जी का भी उपयोग करते हैं।

यहाँ के जनजाति लड़के पशुपालन के साथ टीन व सरियों से बड़े–बड़े हॉल दो दिन में तैयार कर लेते हैं। इसके लिए उन्हें बाहरी व्यक्तियों के दिशा–निर्देश की आवश्यकता नहीं रहती है। ये इतने सक्षम हो जाते हैं कि अपने साथियों को भी ट्रेनिंग दे देते हैं। इस प्रकार जनजाति और ग्रामीण मिलकर धरती का समर्थन करते हैं।

हिन्दी पत्रिका 'सरस्वती' में सन् 1857 का विद्रोह

डॉ. माधुरी शेरे
अतिथि विद्वान (इतिहास)
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

सन् 1900 ई. में प्रयाग के इण्डियन प्रेस के अध्यक्ष बाबू चिन्तामणि घोष ने 'सरस्वती' प्रकाशित की। 'सरस्वती' का प्रकाशन काशीनागरी प्रचारिणी सभा की ओर से हुआ था। उस समय उसके संपादक मण्डल में भारतेन्दु हरिशचन्द्र के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास, पुराने संपादक बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', पं. किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू श्यामसुन्दरदास–ये पाँच सज्जन थे। 'सरस्वती' के पहले अंक में भारतेन्दु हरिशचन्द्र की ओर दूसरे अंक में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की जीवनी निकली थी। 'सरस्वती' का प्रथम अंक जनवरी, 1900 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके मुखपृष्ठ पर ''नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित'' अंकित रहता था। प्रवेशांक के मुखपृष्ठ पर पाँच चित्र थे। सबसे ऊपर वीणावादिनी सरस्वती का चित्र था, दाहिनी ओर ऊपर सूरदास और बायीं ओर गोस्वामी तुलसीदास की प्रार्थना मुद्रा में छवियाँ थी और नीचे राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और बाबू भारतेंदु हरिशचन्द्र के चित्र थे। जनवरी, 1901 ई. से बाबू श्यामसुन्दरदास 'सरस्वती' के संपादक हो गए। लेकिन 1902 ई. के अंत में बाबू श्यामसुन्दरदास ने आगे संपादन कर पाने में असर्मथता व्यक्त कर दी। बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी 20 रु. में 'सरस्वती' के संपादक बने। द्विवेदीजी को तीन रुपये डाक खर्च के लिए मिलते थे जब वे 'सरस्वती' प्रेस से अलग हुए तब उनकी तनख्वाह 150 रु. थी। उसके बाद उन्हें इण्डियन प्रेस से 50 रु. मासिक पेन्शन के मिलते रहे। 'सरस्वती' का एक ओर अवदान रहा, उसकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ और समालोचनाएँ। ये प्रायः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं लिखते थे। 1903 ई. तक 'सरस्वती' उत्कृष्ट पत्रिका के रुप में स्थापित हो गई थी।

सन् 1903 से 1920 ई. तक द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' का संपादन किया और उसे स्थापित भी किया। द्विवेदीजी के बाद पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' और श्री नारायण चतुर्वेदी इसके संपादक रहे। श्री नारायण

चतुर्वेदी के संपादकत्व में 'सरस्वती' का हीरक जयंती अंक दिसम्बर 1961 में प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' को 'हिंदी पत्रकारिता की गंगा' माना जाता था। द्विवेदीजी अनेक लेखकों एवं पत्रकारों को सामने लाए। सन् 1970 ई. में यह पत्रिका बंद हो गई। कुछ महीने बाद इसका प्रकाशन पुनः आरंभ किया गया, किन्तु इसका पहले जैसा रुप और आभा कभी की समाप्त हो चुकी थी। सरस्वती पत्रिका के **अक्टूबर 1921** के अंक में प्रकाशित **महावीर सिंह वर्मा** के लेख **'नानासाहब और कानपुर का हत्याकांड'** में **1857** का जिक्र हुआ है। **सितम्बर 1921** के अंक में **महावीरप्रसाद द्विवेदी** का लेख **'वाजिदअलीशाह'** प्रकाशित हुआ जिसमें **1857** का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार इसके **जनवरी 1904** के अंक में तथा **अप्रैल 1908** के लेख में **1857** का उल्लेख हुआ है।

'सरस्वती' (अक्टूबर 1921) में **श्री महावीर सिंह वर्मा** के लेख **''नानासाहब और कानपुर का हत्याकांड'' में,** जो 'प्रवासी' कलकत्ता में प्रकाशित श्री अरुणदत्त के लेख के आधार पर लिखा गया है, श्रीमती होस्टेस्टेट की गवाही पर यह प्रतिपादित किया गया है कि अंग्रेज इतिहासकारों ने नानासाहब पेशवा पर जो यह दोषारोपण किया है कि कानपुर का हत्याकांड उनकी आज्ञा से हुआ था वह मिथ्या है। इन श्रीमतीजी ने स्वयं विद्रोहजनित कष्टों को सहा था और उन्होंने सिपाही विद्रोह के संबंध में फ्रांसीसी भाषा में एक पुस्तक लिखी थी जिसका अनुवाद फारसी में भी ''खानुमे इंगलिशी दर बलवाए हिन्द'' नाम से हुआ था। इसमें लेखिका ने भारतवासियों की घोर निन्दा की है, परंतु कानपुर के हत्याकांड के बारें में उसने लिखा कि ''.....लोग चाहे जो कहें, पर मैं बराबर यही कहूँगी कि कानपुर हत्याकांड के संबंध में नानासाहब कदापि दोषी नहीं। उस समय वे तीस वर्ष के युवक थे। उनका अंतःकरण सीधा–साधा और स्वभाव बहुत अच्छा था मैं जोर देकर कहती हूँ कि यदि विद्रोही लोग नानासाहब की बात मानते तो कानपुर हत्याकांड कभी न हुआ होता। विद्रोहियों के प्रतिज्ञाभंग का यह कारण था कि जिस समय हम लोग इलाहाबाद जाने के लिए नाँवों पर सवार हुए उसी समय उस बारुदखाने में, जो अस्पताल के मध्य में था, आग लगा दी गयी। इससे उन्होंने यह समझा कि अंग्रेजों का एक दल युध्द जारी रखने के अभिप्राय से जनरल हैवलाक की प्रतीक्षा में वहाँ छिपा हुआ हैं। किंतु जीवित व्यक्तियों में से जो लोग निर्दोष प्रमाणित हुए नानासाहब ने उनके प्राण हरण नहीं किये। .....'' अंत में लेखक कहता है कि : ''क्या इतने पर भी नानासाहब बदमाश या हत्याकारी कहे जाने के पात्र है इस ओर ध्यान देना इतिहास के मार्मिक ज्ञाताओं का काम है।''

'सरस्वती', सितंबर सन् 1921 में स्वयं **महावीरप्रसाद द्विवेदीजी** का एक लेख **''वाजिदअलीशाह''** शीर्षक छपा है। इसमें यह वर्णित हुआ है कि अवध के शाह वाजिदअलीशाह को अंग्रेजों ने किस प्रकार पद्च्युत किया। लेख में वाजिदअलीशाह के उस चारित्रिक पतन का भी दिग्दर्शन किया गया है जिसका बहाना करके अंग्रेजों ने उनका राज हड़प लिया था। लेख में अंग्रेजों की इसके लिए सीधे–सीधे निन्दा तो नहीं की गयी परन्तु अवध का राज्य अंग्रेजों द्वारा हड़प जाने पर लेखक का क्षोभ प्रकट हुआ हैं। अंग्रेजी कंपनी के हुक्मनामे में कहा गया था कि ''अपने देश का सुप्रबंध न करने से तुमने सब तरफ अराजकता फैला दी, इससे कंपनी को तुम्हारा राज्यसूत्र अपने हाथ में लेना पड़ा। तीन दिन में बादशाह को अवध का सूबा कंपनी के सिपुर्द कर देने का हुक्म हुआ। इस बात को वाजिदअलीशाह ने मंजूर न किया। इससे अंग्रेजों ने इन्हें जबरन कलकत्ते भेज दिया। वे बहुत रोये धोये, उनके पूर्वजों ने अंग्रेजों पर जो उपकार किये थे उनका उन्होंने बार स्मरण दिलाया, पर सब व्यर्थ हुआ। अवध अंग्रेजों का हो गया। 1856, 57 में जब लखनऊ में सिपाही विद्रोह हुआ तब वाजिदअलीशाह पर यह इल्जाम लगाया गया कि वे भी उसमें शामिल रहे हैं। इस कारण कलकत्ते के मटियाबुर्ज से हटाकर वे वहाँ के फोर्ट विलियम में रखे गये।''

अंत में **द्विवेदी जी** ने लिखा : ''.....1857 में उनका पुत्र बागियों से मिल गया था। वह राना बेनीमाधवसिंह आदि से मिलकर गदर के समय अंग्रेजों से लड़ा था पर पीछे उसे हारकर नेपाल भाग जाना पड़ा था।.....इस तरह अपनी विलासप्रियता के वशीभूत होकर वाजिदअलीशाह ने अपने पूर्वजों का राज्य सदा के लिए खो दिया।''

'सरस्वती' के जनवरी फरवरी 1904 के अंकों में **''झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई''** शीर्षक सचित्र लेख में **1857** का उल्लेख हुआ हैं। इसमें रा. ब. दत्तात्रेय बलवंत पारसनीस की रानी लक्ष्मीबाई विषयक सुप्रसिध्द मराठी पुस्तक का दिग्दर्शन है। इसमें कहा गया है कि लेखक ने यह दृढ़तापूर्वक सिध्द कर दिया है कि 1857 के बलवे में अंग्रेजों का जो वध झांसी में हुआ था उससे रानी लक्ष्मीबाई का कुछ भी संबंध नहीं था। ''इस पुस्तक को पढ़कर लक्ष्मीबाई का अतुल पराक्रम, उनका अतुल धैर्य और उनकी अतुल वीरता आँखों के सम्मुख आ जाती हैं। ऐसी वीर नारी इस देश में क्या और देशों में भी शायद ही हुई होगी। सर एडविन आरनाल्ड ने लक्ष्मीबाई की उपमा फ्रांस की प्रसिध्द वीरबाला जोन आफ आर्क से दी है।'' रानी के पूर्ववृत्त और अंग्रेजों द्वारा झांसी को अंग्रेजी राज्य में मिला लिये

जाने, रानी की पेंशन होने और रानी द्वारा उमेशचन्द्र बनर्जी को वकील बनाकर इग्लैंड में इसके विरुध्द अपील करने भेजने आदि का वर्णन करके लेख में 1857 का उल्लेख इस प्रकार किया गया है : ''इस प्रकार रानी साहब अपने दिन काट रही थी कि 1857 का महादुःखद प्रसंग आया। उसने रानी साहब की देह की आहुति लेकर हजारों मनुष्यों का नाश किया और दामोदर राव के सर्वस्व का और सुख का भी नाश कर डाला।''

इस लेख में यह प्रतिपादित किया गया है कि झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई तो राजभक्त ही बनी रहना चाहती थी, परंतु समय की गड़बड़ी में अंग्रेजों ने उनकी वास्तविक स्थिति समझने में भूल की और उनके साथ ऐसा व्यवहार किया जिससे उन्हें यह लगा कि अंग्रेज उनका अपमान करने पर तुले है। यह उस वीर स्वाभिमानिनी वीरांगना को सहन नहीं हुआ और वह विद्रोहियों में सम्मिलित हो गयी। लेख में कहा गया है कि ''यद्यपि रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजी गवर्नमेंट की तरफ से झाँसी की राज्य व्यवस्था चलाती थी और यद्यपि विद्रोही और लुटेरों को दण्ड देकर प्रजा की रक्षा का उन्होंने योग्य प्रबंध किया था, तथापि उचित रीति पर अंग्रेजों की कृपा–संपादन करने में उनके सरदारों की शिथिलता के कारण, अथवा और किसी कारण से रानीसाहब की राजनिष्ठा गवर्नमेंट को विदित नहीं हुई। क्योंकि यदि विदित होती तो हमारी कृपालु और न्यायी सरकार कभी झाँसी पर चढ़ाई न करती खैर.....'' रानी के अंग्रेजों से युध्द करने के संबंध में लिखा गया है कि रानी की सेना में वे पुराने लोग थे जिन्हें अंग्रेजों का राज्य होने पर सेना से पृथक कर दिया गया था। और इस कारण वे ''गर्वनमेंट के पूरे शत्रु थे। इस द्वेष बुध्दि के कारण उन्होंने लड़ने के लिये कमर बाँधी।.....कोई कहता है कि रानी साहब को सरकारी अधिकारियों की ओर से पत्र आया कि अपने सरदारों समेत निःशस्त्र होकर उनसे मिलें। कोई कहता है कि किसी ने रानीसाहब को यह सुझा दिया कि अंग्रेज अधिकारी उनको कैद करना चाहते है। कोई कुछ कहता है कोई कुछ, इसका ठीक पता नहीं लगता कि क्या समझकर लक्ष्मीबाई ने युध्द ठाना।'' कुछ भी हो लेख में रानी के शौर्य और वीरता की भूरि प्रशंसा की गयी है।

'सरस्वती' के 1904 के जनवरी के अंक में **''अवध में अंग्रेजों का पहला इश्तहार''** शीर्षक लेख छपा। उसमें भी 1857 का उल्लेख उसे गदर कहते हुए ही हुआ हैं। लेख लेफ्टिनेन्ट जनरल मेकल्यूड इनिसे की पुस्तक 'गदर में लखनऊ और अवध'' के आधार पर लिखा गया है जिसमें गदर के पहले अवध के नवाब वाजिदअली को गद्दी से

उतार कर अवध पर कब्जा कर लेने का औचित्य 1801 के संधिपत्र के आधार पर प्रतिपादित किया गया है, अंग्रेजों के इश्तहार का यही प्रतिपाध था।

'सरस्वती' अप्रैल 1908 में 'चरखारी' शीर्षक लेख में **'सिपाही विद्रोह'** का उल्लेख हुआ है और उसमें चरखारी के राजा रत्नसिंह द्वारा अंग्रेजों का पक्ष लिये जाने की चर्चा हैं। ''बागियों ने चरखारी के किले को घेर लिया और राजा रत्नसिंह से कहा महोबे के ज्वाइन्ट मैजिस्ट्रेट कर्न साहब को जो तुमने छिपा रखा है फौरन हमारे हवाले कर दो। परंतु राजा साहब ने उसी पक्ष का अनुसरण किया जिसका रणथंभोर के हमीर वीर ने किया था.....वे कर्न के बदले अपने प्राणोयम पुत्र जयसिंह को विद्रोहियों के हवाले करने पर राजी हो गये।''

लेख में विद्रोह के बाद लार्ड केनिंग द्वारा कानपुर में 3 नवंबर 1859 को दरबार किये जाने और जिन लोगों ने अंग्रेज राज की मदद की थी उनका सम्मान किये जाने का उल्लेख हैं। उसमें राजा रत्नसिंह की प्रशंसा में जो शब्द लार्ड केनिंग ने कहे थे उन्हें उध्दृत किया गया है तथा राजा साहब को अंग्रेजों से मिले पुरस्कार का भी उल्लेख किया गया हैं।

'सरस्वती' में महाराजा सर खंगबहादुर (नेपाल) और हैदराबाद के प्रधानमंत्री नवाब सर सालारजंग के संबंध में भी लेख छपे और उनमें भी 1857 का उल्लेख हुआ। इसी प्रकार 'सरस्वती' अगस्त 1908 में ग्वालियर के दीवान रावराजा सर दिनकर राव के. सी. एस. आई के संबंध में भी एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें 1857 के विद्रोह में उनके द्वारा अंग्रेजों की सहायता की जाने का उल्लेख किया गया। परंतु लेखक बनवारी लाल तिवारी के इस लेख में यह बड़ी व्यंजना पूर्णरीति से कहा गया है कि ''सन् 1857 के गदर के समय उनकी कारवाई उनके जीवन का सबसे बड़ा आलोच्य विषय है। उन्होंने अंग्रेजों का पक्ष लिया और आदि से अंत तक विद्रोह दबाने के लिए बराबर चेष्टा करते रहे। जिस समय बड़े लाट भारत में अंग्रेजी राज के रहने न रहने का निबटेरा केवल सिंधिया सरकार पर कर चुके थे उस समय उनकी कारवाई देश के हित अथवा अहित का कारण कही जा सकती है। परंतु सारे देश के हित अथवा अहित साधन का एक मात्र कारण एक मनुष्य को ठहराना उचित नहीं।'' इसमें 'भारत में अंग्रेजी राज रहने न रहने' और 'देश के हित अथवा अहित' की बात किस चतुराई से की गयी है यह दृष्टव्य है। इसमें 1857 के संघर्ष के

संबंध में लेखक की आंतरिक भावना ध्वनित है और अंग्रेजी राज का वह आतंक भी ध्वनित है जिसके कारण वह उसे स्पष्ट रुप में प्रकट नहीं कर पाता।

'सरस्वती'' ने अपने विभिन्न अंकों में सन् 1857 के वीर नायकों व रानी लक्ष्मीबाई की वीरता और क्रांति संबंधी लेख प्रकाशित किये हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

01. अनुजा मंगला (1996) *भारतीय पत्रकारिता–नींव के पत्थर,* भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी.
02. बाजपेयी अम्बिकाप्रसाद (2010), *समाचार पत्रों का इतिहास,* वाराणासी : ज्ञान मण्डल लिमिटेड.
03. शर्मा श्री निवास (1999), *राष्ट्रीय मुक्तिसंघर्ष और हिन्दी पत्रकारिता,* कलकत्ता : छपते छपते प्रकाशन.
04. श्रवण कुमार (2006), *हिन्दी पत्रकारिता का बदलता स्वरुप,* नई दिल्ली : ओमेगा पब्लिकेशन्स.
05. माहौर भगवानदास (1976), *1857 के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव,* अजमेर : कृष्णाब्रदर्स.
06. सरस्वती–सितम्बर 1921, अक्टूबर 1921

भारत में बाल श्रम नीति एवं कानून

डॉ. सरोज अजय
प्राध्यापक, अर्थशास्त्र
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

बच्चे किसी भी देश का भविष्य होते है और भविष्य की धरोहर की सुरक्षा और कल्याण का दायित्व वर्तमान पीढ़ी का होता है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार ''कोई भी ऐसा कार्य जो बच्चे के स्वास्थ्य, मानसिक विकास, इच्छित अवसर, शिक्षा और आवश्यक मनोरंजन में बाधा डाले तथा जो श्रम बाल्यावस्था में ही उन्हें प्रौढ़ावस्था की ओर ले जाए, उसे बालश्रम कहते है।'' अतः बालश्रम किसी भी राष्ट्र के लिए एक कलंक है।

अंतर्राष्ट्रीय मानक के आधार पर 15 वर्ष तक व भारत के अनुसार 14 वर्ष से कम आयु के बच्चे जो अपना श्रम बेचते है, बाल श्रमिक कहे जायेंगे। भारत के नेशनल सेम्पल सर्वे आर्गेनाइजेशन के अनुसार देश में साढ़े चार करोड़ से लेकर करीब ग्यारह करोड़ के बीच बाल श्रमिक है। जो बाल वैश्यावृत्ति से लेकर खतरनाक उद्योगों में जबरदस्ती झोंक दिए गए है। इनमें ज्यादातर बालक असंगठित उद्योगों व वर्कशॉपों में काम करते है, जैसे माचिस और आतिशबाजी उद्योग, स्लेट–पेंसिल, कालीन उद्योग, बीड़ी उद्योग, चमड़ा उद्योग, काँच और चूड़ी उद्योग, ईंट–भट्टा उद्योग, रसायन उद्योग, खदान में उत्खन्न कार्यों में, होटल उद्योगों में, भीख मांगना, आदि के साथ–साथ खतरनाक बड़े संयंत्रों में और यौन श्रमिकों के रुप में लाखों बच्चे शोषित व दयनीय जीवन जी रहे है। इतनी विकट एवं विभत्स और अमानवीय स्थिति में काम करने के परिणामस्वरुप बाल श्रमिक टी.बी., कैंसर, सांस की बीमारी, चर्म रोग और दमा जैसी अनेक खतरनाक बीमारियों का शिकार हो जाते है। स्वास्थ्य हानि के साथ ही ये मानसिक विकृति से ग्रस्त होकर बाल अपराधी बन जाते है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन रिपोर्ट के अनुसार भारत पहुंचने वाले विदेशी पर्यटकों में विशेषकर गोवा में ऐसे पर्यटकों की संख्या बहुत ज्यादा है जो बालकों के यौन शोषण के चक्कर में यहां पहुँच रहे है।

बाल श्रमिक की समस्या और शोषण केवल भारत में ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व के देशों की गहन समस्या बन चुका है और दिनोंदिन इसका विस्तार होता जा रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन तथा न्यूयॉर्क टाइम्स के अनुसार विश्व में लगभग 25 करोड़ बाल श्रमिक है, जिनमें से 10 करोड़ से अधिक भारत में है और विश्व के कुल बाल–श्रमिकों में 50 प्रतिशत भारत, पाकिस्तान, नेपाल और श्रीलंका में है।

बाल श्रमिकों की कार्य दशाएँ, कार्य के घंटे और उत्पीड़न को देखकर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुत सी संस्थाओं के साथ अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग यूनीसेफ, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आदि अनेक संस्थाएँ इस दिशा में कार्य कर रही है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने बाल अधिकारों से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय घोषणा पत्र वर्ष 1959 में पारित किया और वर्ष 1979 में यह लागू हुआ। विश्व समाज का ध्यान आकर्षित करते हुए वर्ष 1979 को अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के रुप में मनाया गया। भारत ने इस घोषणा पत्र के प्रावधानों को वर्ष 1992 में लागू किया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 309 की धारा 4 और मौलिक अधिकारों की धारा 3 में बच्चों के शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आदि हर तरह के शोषण और कठिन श्रम वर्जित है।

संविधान की भावनाओं के अनुरुप बाल श्रमिकों की समस्याओं के समाधान के लिए भारत सरकार ने वर्ष 1987 में राष्ट्रीय बाल श्रम नीति बनाई। इस नीति में बाल श्रम उन्मूलन के साथ–साथ शिक्षा नीति, गरीबी उन्मूलन नीति, स्वास्थ्य नीति एवं राष्ट्रीय योजनाएँ भी सम्मिलित की गई। इसमें एक बाल श्रम तकनीकी सलाहकार समिति का गठन किया गया, इसका कार्य बाल श्रम कल्याण के अनुकूल भारी खतरनाक एवं रसायन उद्योगों के विरुद्ध केन्द्रीय तथा राज्य सरकार के प्रभारी विभागों को निर्देशित करना और जिन व्यवसायों में बाल श्रमिक लगे हैं, वहाँ उनके स्वास्थ्य, सुरक्षा, साप्ताहिक छुट्टियाँ आदि प्रावधानों को लागू करना, आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन करना और अनियमितता पाने पर संस्थानों व उत्तरदायी व्यक्तियों के विरुद्ध कार्यवाही करना है। बाल श्रम बाहुल्य क्षेत्रों में हितकारी परियोजना लागू करना तथा बाल श्रमिकों की शिक्षा हेतु स्कूल, मुफ्त आवास, स्वास्थ्य और भोजन व्यवस्था तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, ताकि वयस्क होने पर, वो आत्मनिर्भर बन सके। साथ ही बाल श्रमिकों के कल्याण के लिए गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम एवं एकीकृत बाल विकास कार्यक्रम बनाकर, भारत सरकार, राज्य सरकारों व स्वयंसेवी संस्थाओं के माध्यम से बाल श्रम नीति वर्ष 1987 को सफल बनाने का प्रयास दिया जा रहा है।

भारत सरकार ने बाल श्रमिकों के हितों की सुरक्षा के लिए अनेक कारगर अधिनियम बनाए है। जैसे कारखाना अधिनियम 1948, खान अधिनियम, 1952, बीड़ी एवं सिंगार अधिनियम 1983, बंधुआ मजदूर प्रतिषेध अधिनियम 1976, दुकान एवं संस्थान अधिनियम 1961, भारतीय संविदा अधिनियम 1958, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948 आदि। 1986 में बाल श्रमिक निषेध एवं नियमन अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम का उद्देश्य कम उम्र के बच्चों को असुरक्षित एवं हानिकारक उपयोग प्रक्रिया में नियोजित करने से प्रतिबंधित करना है। इस अधिनियम की अनुसूची में अब तक कुल 74 व्यवसाय व प्रक्रियायें शामिल किए गए है, जिनमें बाल मजदूरी पर रोक लगा दी गई है। यह अधिनियम संपूर्ण भारत में प्रभावशील है। **साथ ही 10 अक्टूबर 2006 को संपूर्ण राष्ट्र में बाल श्रम प्रतिबंधित कर दिया गया है।**

बालश्रम विश्वव्यापी समस्या है, बालकों का शोषण मानवाधिकारों का स्पष्ट उल्लंघन है और सभ्य समाज के लिए, अभिशाप है। भारत में बाल श्रम की विकराल समस्या के पीछे प्रमुख कारण आर्थिक विषमता है तथा गरीबी और अशिक्षा इसकी जड़ हैं। जीवनयापन की मूलभूत सुविधाएँ जुटाने के क्रम में बाल मजदूरी की समस्या और गंभीर होती जा रही है। अतः गरीबी उन्मूलन तथा बाल श्रमिकों के पुनर्वास की व्यवस्था करने के साथ ही, समाज में सामाजिक चेतना, शिक्षा और बच्चों के प्रति वात्सल्य भाव जागृत करना आवश्यक है, क्योंकि बाल श्रम की प्रवृत्ति का उन्मूलन सिर्फ सरकारी प्रयासों से संभव नहीं है। इसके लिए समाज के प्रत्येक वर्ग को अपने निजी स्वार्थों का त्यागकर मानवीय कर्तव्य का दृष्टिकोण अपनाना होगा तथा बाल श्रम नियंत्रण कानूनों का निष्ठा के साथ पालन करना होगा। जब किसी कार्य के विरुद्ध पूरा समाज उठ खड़ा होता है, तब सफलता पाने में ज्यादा देर नहीं लगती है। अतः हमें जनजागृति के भरसक प्रयत्न करना चाहिए, तभी हम बाल–श्रम की इस गंभीर समस्या को समाप्त कर एक सुखद और समृद्ध भारत का सपना साकार कर सकेंगे।

म.प्र. में चयनित सार्वजनिक बैंकों द्वारा प्रदत्त उच्च शिक्षा ऋण की प्रभावशीलता का मूल्याकंन

डॉ. महेश गुप्ता
प्राध्यापक, वाणिज्य
श्री नीलकण्डेश्वर महाविद्यालय
खण्डवा (म.प्र.)

डॉ. भारती शाह
एम.के.एच.एस. गुजराती कन्या
महाविद्यालय, इन्दौर

भूमिका :

भारत एक विकासशील एवं प्राकृतिक संसाधनों से समृद्धशाली राष्ट्र है, इसकी अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि पर आधारित है, किन्तु किसी भी राष्ट्र की आर्थिक विकास की गति देश के नवयुवकों पर निर्भर करती है। शिक्षित नवयुवक ही देश के प्रचुर संसाधनों को उत्पादन में रूपांतरित करके देश की आय, सम्पत्ति व पूँजीगत साधनों एवं नवीनता का सृजन कर सकते है। उच्च शिक्षा राष्ट्र की संतुलित एवं समग्र प्रगति का एक प्रभावी उपकरण है। यह विकासशील देशों को गरीबी, भुखमरी, निम्न जीवन स्तर व साधनहीनता के दुष्चक्र से मुक्त करने का महत्वपूर्ण हथियार है। उच्च शिक्षा राष्ट्र के सामाजिक व आर्थिक लक्ष्यों एवं व्यक्तियों की उच्च आकांक्षाओं की पूर्ति का सहज मार्ग है।

इसी संदर्भ में बढ़ते हुए शैक्षणिक व्यय को देखते हुए तथा उच्च शिक्षा के महत्व को समझते हुए सरकार ने बैंकों के माध्यम से शिक्षा ऋण योजना प्रारंभ की। जो भारत में अध्ययन हेतु तथा विदेश में अध्ययन हेतु शिक्षा ऋण उपलब्ध करवाती है।

शिक्षा ऋण हितग्राहियों के प्लेसमेन्ट का स्तर :–

चयनित सार्वजनिक बैंको द्वारा प्रदत्त उच्च शिक्षा ऋण की प्रभावशीलता का मूल्याकंन करने के लिए शिक्षा ऋण हितग्राहियों के प्लेसमेन्ट की स्थिति के विभिन्न स्तरों को भी आधार बनाया गया, क्योंकि उत्साहवर्धक तथा संतोषजनक प्लेसमेन्ट मिलने पर ही हितग्राही की ऋण पुनर्भुगतान क्षमता में वृद्धि होती है। जो योजना की सफलता तथा

उसके भविष्य को सुनिश्चित करती है। यह जानने के लिए तालिका क्र. 1 का निर्माण किया गया–

तालिका क्र. 1

शिक्षा ऋण हितग्राहियों के प्लेसमेंट के स्तर से संबंधित

क्र.	स्थिति	स्टेट बैंक ऑफ इंडिया	स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर	बैंक ऑफ बड़ौदा	कॉर्पोरेशन बैंक	कुल	प्रतिशत
1	उत्साहवर्धक (रू 5–8 लाख . पैकेज)	32	28	24	26	110	55
2	संतोषजनक (रू 3–4 लाख . पैकेज)	10	17	16	11	54	27
3	असंतोषजनक (रू 1.5–1.8 लाख पैकेज)	08	05	10	13	36	18
योग		**50**	**50**	**50**	**50**	**200**	**100**

(स्त्रोत – सर्वेक्षण द्वारा)

तालिका क्र. 1 से ज्ञात होता है, कि चयनित सार्वजनिक बैंकों में संयुक्त रूप से 110 हितग्राहियों ने जो 55 प्रतिशत थे, प्लेसमेन्ट की स्थिति को उत्साहवर्धक बताया। इन विद्यार्थियों को 5 लाख से 8 लाख के बीच पैकेज प्राप्त हुआ। 54 हितग्राही जो 27 प्रतिशत थे, उन्होंने प्लेसमेन्ट की स्थिति को संतोषजनक बताया। इन विद्यार्थियों को 3 लाख से 4 लाख रूपये के बीच पैकेज प्राप्त हुआ व 36 हितग्राही जो 18 प्रतिशत थे। प्लेसमेन्ट की स्थिति से असंतुष्ट थे तथा उन्हें किसी अच्छी कम्पनी के न आने के कारण 1.5 लाख से 1,80 लाख रूपये के बीच के ही पैकेज प्राप्त हो पाए तथा उनका प्लेसमेन्ट मेट्रो सीटी (मुम्बई, कलकत्ता, चेन्नई) में हुआ जो पहले से ही मंहगे शहर है।

कुल मिलाकर प्लेसमेन्ट चाहे उत्साहवर्धक हो, संतोषजनक हो या फिर असंतोषजनक हो प्रत्येक स्थिति में हितग्राहियों की आय में क्रमानुसार वृद्धि हो रही है। जिससे देश की प्रति व्यक्ति आय एवं राष्ट्रीय आय, बचत, विनियोग व पूँजी निर्माण में वृद्धि सुनिश्चित है। इस आधार से भी शिक्षा ऋण योजना की सफलता की जानकारी हासिल हुई।

शिक्षा ऋण हितग्राहियों की विविध क्षेत्रो में प्लेसमेन्ट की स्थिति–

चयनित सार्वजनिक बैंको द्वारा प्रदत्त उच्च शिक्षा ऋण की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करने के लिये शिक्षा ऋण हितग्राहियों के विभिन्न क्षेत्रों में प्लेसमेंट की स्थिति को भी आधार बनाया गया, क्योंकि शिक्षा ऋण देने मात्र से ही योजना अपने उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकती, अपितु उस ऋण आंकना की आवश्यक है अर्थात शिक्षा ऋण देने से क्या प्रभाव पड़ा यह जानना भी आवश्यक है। इस कारण विभिन्न क्षेत्रों में प्लेसमेन्ट की स्थिति को आधार बनाकर उच्च शिक्षा ऋण की प्रभावशीलता का मूल्यांकन किया गया। जिसे तालिका क्र. 2 में दर्शाया गया है–

तालिका क्र. 2

शिक्षा ऋण हितग्राहियों की विविध क्षेत्रो में प्लेसमेन्ट की स्थिति

क्र.	प्लेसमेंट का क्षेत्र	स्टेट बैंक ऑफ इंडिया	स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर	बैंक ऑफ बड़ौदा	कॉर्पोरेशन बैंक	कुल	प्लेसमेंट का प्रतिशत
1	चिकित्सा	12(10)	17(16)	14(13)	10(8)	53(47)	89
2.	तकनीकी	22(20)	16(16)	20(18)	25(24)	83(78)	94
3.	व्यवसायिक	14(13)	14(12)	14(13)	13(12)	55(50)	90
4.	अन्य	02(02)	03(03)	02(01)	02(01)	09(07)	78
	योग	**50**	**50**	**50**	**50**	**50**	**50**

(स्त्रोत – 1. सर्वेक्षण द्वारा, केम्पस सिलेक्शन के आधार पर। कोष्ठक में शिक्षा ऋण प्राप्त हितग्राहियों की संख्या है तथा कोष्ठक के बाहर प्लेसमेन्ट प्राप्त हितग्राहियों की संख्या है)

तालिका क्र. 2 से ज्ञात होता है, कि चयनित सार्वजनिक बैंको में संयुक्त रूप से 89 प्रतिशत हितग्राही जो 47 थे ने बताया कि उनका प्लेसमेन्ट चिकित्सा क्षेत्र में हुआ है, 78 हितग्राही जो 94 प्रतिशत थे, उनका प्लेसमेन्ट तकनीकी क्षेत्र में हुआ है। 50 का सदुपयोग हुआ या नहीं हितग्राही जो 90 प्रतिशत थे ने बताया कि उनका प्लेसमेन्ट व्यवसायिक क्षेत्र में हुआ है एवं 78 प्रतिशत हितग्राही जिनकी संख्या 7 थी उनका प्लेसमेन्ट अन्य क्षेत्रों में हुआ है। कुल मिलाकर आई.टी. तथा तकनीकी क्षेत्र में विद्यार्थियों को काफी अच्छा प्लेसमेन्ट व पैकेज मिला है। वैसे तो प्लेसमेन्ट के अवसर सभी शिक्षा ऋण हितग्राहियों को प्राप्त हुए किन्तु कई विद्यार्थियों ने हैदराबाद, गुड़गाँव, पुना, बैग्लोर इत्यादि जगहो पर जाने में अपनी असहमती दर्शाई इस कारण जिन विद्यार्थियों ने प्लेसमेन्ट को स्वीकार कर नौकरी पर जाने की तत्परता दिखाई उन्हें ही इस तालिका में शामिल किया गया है।

अतः इस आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि म.प्र. में चयनित सार्वजनिक बैंकों द्वारा प्रदत्त उच्च शिक्षा ऋण योजना काफी लोकप्रिय एवं सफल रही।

शिक्षा ऋण हितग्राहियों के आर्थिक व सामाजिक जीवन स्तर पर प्रभाव का मूल्यांकन :–

चयनित सार्वजनिक बैंको द्वारा प्रदत्त उच्च शिक्षा की प्रभावशीलता का मूल्याकंन करने के लिए शिक्षा ऋण हितग्राहियों के आर्थिक तथा सामजिक जीवन स्तर को भी आधार बनाया गया है, क्योंकि शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य मनुष्य के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में वृद्धि करना भी होता है। शिक्षा ऋण योजना किस हद तक सफल रही। यह ज्ञात करने के लिए आवश्यक था कि शिक्षा ऋण लेने के उपरांत हिग्राहियों के सामजिक तथा आर्थिक जीवन स्तर में क्या परिवर्तन आया। इसका पता लाया जाए, तभी शिक्षा ऋण की प्रभावशीलता का मूल्यांकन हो जाएगा। इस हेतु तालिका क्र. 3 (अ) तथा 3 (ब) का निर्माण किया गया।

3 (अ) शिक्षा ऋण हितग्राहियों का आर्थिक जीवन स्तर–

लेने के पूर्व तथा ऋण पुनर्भुगतान के समय चयनित बैंकों के शिक्षा ऋण हितग्राहियों के आर्थिक जीवन स्तर में जो अंतर आया उसे तालिका क्र. 3 (अ) में दर्शाया गया है–

तालिका क्र. 3 (अ)

शिक्षा ऋण लेने के पूर्व तथा भुगतान के समय पारिवारिक मासिक आय संबंधी

क्र.	बैंक का नाम	शिक्षा ऋण के पूर्व औसत पारिवारिक मासिक आय (रूपये)	शिक्षा ऋण भुगतान के समय औसत पारिवारिक मासिक आय (रूपयें)	अंतर	प्रतिशत वृद्धि (शिक्षा ऋण के पूर्व मासिक औसत आय पर आधारित)
1	स्टेट बैंक ऑफ इंडिया	25000	62500	37500	150
2.	स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर	22000	47000	25000	113.63

3.	बैंक ऑफ बड़ौदा	21000	38000	17000	80.95
4	कॉपोरेशन बैंक	24000	42000	18000	75
	योग	**92000**	**189500**	**975000**	–

(स्त्रोत – सर्वेक्षण द्वारा)

तालिका क्र.. 3 (अ) से ज्ञात होता है, कि संयुक्त रूप से स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के हितग्राहियों की पारिवारिक मासिक आय औसतन 150 प्रतिशत बढ़ गई है इसी प्रकार स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर के हितग्राहियों के पारिवारिक मासिक आय औसतन 113.63 प्रतिशत की वृद्धि पर है। बैंक ऑफ बड़ौदा के हितग्राहियों की पारिवारिक मासिक आय में भी औसतन 80.95 प्रतिशत की वृद्धि हुई है व कॉर्पोरेशन बैंक के हितग्राहियों की पारिवारिक मासिक आय की औसतन 75 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। कुल मिलाकर सभीचयनित सार्वजनिक बैंकों के हितग्राहियों के पारिवारिक आय स्तर में शिक्षा ऋण के फलस्वरूप वृद्धि हुई है अर्थात् शिक्षा ऋण लेने से वे अपना कोर्स पूर्ण कर पाये है तथा पुनर्भुगतान की स्थिति में आने तक उनकी आर्थिक स्थिति मजबूत हो गई है। अतः स्पष्ट होता है कि शिक्षा ऋण योजना ने अप्रत्यक्ष रूप से हितग्राहियों के आर्थिक जीवन स्तर को ऊँचा उठाया है।

3 (ब) शिक्षा ऋण हितग्राहियों का सामाजिक जीवन स्तर–

सामाजिक जीवन स्तर से आशय समाज में रहने वाले मनुष्य के जीवन स्तर से है। मनुष्य समाज में रहकर ही अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इन आवश्यकताओं में बुनियादी आवश्यकताएँ आरामदायक वस्तुओं की आवश्यकताएँ तथा विलासिता वस्तुओं से संबंधित आवश्यकताएँ शामिल की जाती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के माध्यम से मनुष्य के सामाजिक जीवन स्तर को आंका जाता है। शिक्षा ऋण लेने के पश्चात तथा कोर्स पूर्ण होने के बाद एवं प्लेसमेन्ट मिलने के बाद शिक्षा ऋण हितग्राहियों के सामाजिक जीवन स्तर में क्या परिवर्तन आया, इसे ज्ञात करने के लिए तालिका क्र. 3 (ब) का निर्माण किया गया–

तालिका क्र. 3 (ब)

शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् तथा प्लेसमेन्ट मिलने पर रहन–सहन के स्तर से संबंधी

आधार	स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया	स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर	बैंक ऑफ बड़ौदा	कॉर्पोरेशन बैंक	कुल	प्रतिशत

आरामदायक वस्तुए	30	28	25	24	107	54
विलासिता पूर्ण वस्तुए	16	18	19	16	69	34
दोनों	04	04	06	10	24	12
कुल	**50**	**50**	**50**	**50**	**200**	**100**

(स्त्रोत – सर्वेक्षण द्वारा)

तालिका क्र. 3 (ब) से ज्ञात होता है, कि संयुक्त रूप से चयनित सार्वजनिक बैंकों के 107 हितग्राहियों ने जो 54 प्रतिशत थे, ने बताया कि शिक्षा ऋण योजना का लाभ उठाकर शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् एवं प्लेसमेन्ट मिलने के बाद आरामदायक वस्तुओं पर उनका खर्च बढ़ गया। उसी तरह 69 हितग्राहियों ने जो 34 प्रतिशत थे ने बताया कि विलासिता वस्तुओं पर उनके उपभोग में वृद्धि हुई तथा 24 हितग्राहियों ने 12 प्रतिशत थे ने बताया कि दोनों ही प्रकार की वस्तुओं से संबंधित उनके उपभोग में वृद्धि हो रही है।

कुल मिलाकर शिक्षा ऋण हितग्राहियों का सामाजिक जीवन स्तर ऊँचा उठा है तथा जिसका सम्पूर्ण श्रेय शिक्षा ऋण योजना को जाता है, क्योंकि शिक्षा ऋण योजना के माध्यम से ही वे अपनी उच्च शिक्षा को पूर्ण कर पाए। जिसके फलस्वरूप उन्हें प्लेसमेन्ट मिल पाया व जिससे उनके रहन–सहन (सामाजिक जीवन) के स्तर में वृद्धि हुई। इस आधार पर शिक्षा ऋण योजना की सफलता ज्ञात हो पाई।

उच्च शिक्षा से सामाजिक सोच में भी परिवर्तन आया। पहले जहाँ महिलाओं को पढ़ने की आजादी नही थी। वही आज महिलाएं उच्च पदों पर आसीन है।
को प्रकट कर रही है।

कुल मिलाकर इस अध्याय से चयनित सार्वजनिक बैंकों द्वारा प्रदत्त उच्च शिक्षा ऋण की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करने से ज्ञात हुआ कि शिक्षा ऋण योजना के फलस्वरूप कोर्स पूर्ण करने के पश्चात हितग्राहियों को विभिन्न क्षेत्रों में काफी उत्साहवर्धक प्लेसमेन्ट प्राप्त हुए जिससे उनका सामाजिक व आर्थिक जीवन स्तर ऊँचा उठाा है, साथ ही वर्तमान में शिक्षा ऋण आवेदकों में भी जागरूकता का प्रसार हो रहा है। जहाँ पहले त्रुटि तथा लापरवाही के कारण आवेदन–पत्र अस्वीकार हो जाते थे वहीं अब इस प्रतिशत में काफी कमी आई है, जो शिक्षा ऋण योजना की सफलता व लोकप्रियता को दर्शाती है,

किन्तु सफलता को बढ़ाने हेतु योजना में नवाचार बढाने तथा औपचारिकताओं में कमी लाने की नितांत आवश्यकता है साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में भी शिक्षा ऋण योजना के प्रति पर्याप्त रूझान उत्पन्न करने के प्रयास किये जाने चाहिए ताकि शिक्षा ऋण योजना जन–जन तक पहुँच सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

क्र.	*लेखक के नाम*	*पुस्तक व प्रकाशक*
(1)	डॉ. शर्मा हरिशचंद्र	मुद्रा एवं बैकिंग, साहित्य भवन प्रकाशक आगरा
(2)	शर्मा हरिशचंद्र	बैंकिंग विधि एवं व्यवहार साहित्य भवन प्रकाशक आगरा
(3)	डॉ. शर्मा हरिशचंद्र एवं प्रो. राम कुमार :	बैकिंग विधि एवं व्यवहार साहित्य भवन प्रकाशक आगरा
(4)	शिक्षा सिद्धांत	कृष्णकांत अग्निहोत्री,

BEN JONSON
Intense, Bemused and Sarcastic

Dr. Roshan Benjamin Khan
Professor, Dept. of English
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts & Commerce College,
Indore (M.P.)

Renaissance playwright BenJonson born on June11,1572 is called by many critics as sacred and profane , bawdy and holy , contrite and arrogant , dramatic and boorish. Outside of academic circles, where there has been a resurgence in interest , Jonson is a distant third in the contemporary popular imagination about the time period , after canonical Shakespeare and super show stopper Christopher Marlowe. Yet Jonson was almost a revolutionary , who writing in every major genre from domestic and revenge tragedy to city comedy and penning verse that despite its deceptive 'simplicity' 'is among the most moving of that age. Moreover, while Shakespeare is in some sense a cipher onto which a variety of positions and opinions can be projected; Jonson in his imperfections can seem more real. Shakespeare may have been for all times, but Jonson was so of his own age that he remains more tangible as a personality. Jonson worked among the first commercial theatre in English history, surrounded by taverns, brothels , and bear baiting pits, with the river acting as perdition's boundary.

In the middle ages,theater had been an extension of the Catholic Church , with massive pageants like the Corpus Christi cycle dominating the dramatic imagination. Upon the Reformation and with the strippingof the altars and the closing of the monasteries , theatre forced out of the cloister and into the entertainment business. There was already a coterie of play writes on secular themes in blank verse before Jonson and Shakespeare would become famous , but it was Jonson's generation(and in large part Jonson himself) who would elevate the grungy, gruby, dirty medium to the realm of true art.

In his play like *Everyman in His Humour*(1598) *Sejanus His Fall*(1603) *Eastward Ho!(1605) Volpone(1606) Epiocene, or The Silent Woman (1609), The Alchemist(1610) Bartholomew Faryre(1611) and The Devil is an Ass (1616)* , among dozens more, perfected a distinctly English voice. He could shift from learned erudition to puckishly working class,diction that could be estimably holy while so ribald, verse where the taverns lanterns and the cathedral's candles burn your eyes simultaneously. Of his corpus there are masterpieces that can stand alongside with Shakespeare and Marlowe, plays like "beast fable' *Volpone* , a satirical account of the court of St James's diplomat in Vience. In *Volpone* human

personalities are endowed with bestial characteristics , from the titular character, who is a 'sly Fox' to his sycophantic servant Mosca, who is a drawn to his master as a fly to flower: Corbaccio 'The Raven' and 'Volpone the vulture' who is ofcourse a lawyer. A similar sensibility concerning the foibles of human vanity regarding wealth, religion , and almost everything else is also demonstrated in *The Alchemist* with its cast of conmen , cutpurses, prostitutes, and credulous Anabapists. But no play in Jonson's body of work , or indeed that of the English Renaissance's, is a unmitigated a triumph of narrative complexity , earthy dialogues, and experimental finesse like that of his masterpiece Bartholomew Fayre. A "city comedy" that attempts to demonstrate the complex, chaotic, fetid and glorious realities of everyday life in England's capital. Jonson creates characters who ply their wares at the massive carnivals –like fair at the edge of the city, where different classes and occupations all mingle , with the play presenting a tableaux of the city as ever depicted on the stage during the Renaissance or any other era. The comedy *The Devil is an Ass* (1616) had turned out to be a comparatively flop and he turned his attention in writing masques. Jonson's later plays *The New Inn* (1629) and *A Tale of a Tub* (1633) were not a great success, described harshly, but perhaps justly by Dryden as his "dotages". Jonson's style and substances is complex, earth bound and classical. His writings explores wide range of religious themes, from the relatively uncontroversial realms of Christian ethics to the politically combustible ground of English Catholism. Yet his dramas appear to focus on human ethics and behavior to the general exclusion of doctrinal and metaphysical concerns. It looks as if Jonson placed himself in opposition to the spirit of the age.

Never the less, BenJonson comedies are at its best dramatic work. Volpane is the story of an old, childless, venetian nobleman whose ruling passion is avarice. Everything else in the play is made tributary to this passion. The first three lines in the first act strike the keynote of the entire play. Volpone says: "Good morning to the day: and next, my gold! Open the shrine, that I may see my saint. Half the world's soul and mine!" (Jonson, Ben. *Volpone* ActIscenec i) *The Alchemist* makes a strong presentation of certain forms of credulity in human nature and of the special tricks which the alchemist and imposters of that day adopted. One character wants to buy the secret of the helpful influence of the stars; another parts with his wealth to learn the alchemist secret of turning everything into gold and jewels. This way in which these characters are deceived is very amusing. A study of this play adds to our knowledge of a certain phase of the times. In point of artistic construction of the plot, *The Alchemist* nowhere excelled in the English drama; but the intrusion of Jonson's learning often makes the play tedious reading, as when he introduces the technical terms of so

called science of alchemy to show that he studied it thoroughly. *The Silent Woman* is in lighter vein than either of the plays mentioned. The leading character is called Morose, and his special whim or 'humor' is a horror of noise. His home is on a street "so narrow at both ends that it will receive no coaches nor carts, nor any of these common noises". Foe a long time Morose does not marry, fearing the noise of a wife's tongue. He has his mattresses on the stairs and dismisses the footman for wearing squeaking shoes. Finally he commissions his nephew to find a silent woman for his wife and the dramatist uses to his good advantage the opportunity for comic situation which thus turn in the action it affords. His first play, Every Man in his Humor, paints, not the universal emotions of men, but some special humor. He thus defines the sense in which he uses humor: "As when someone peculiar quality doth so posses a man that it doth draw. All his affects, his spirits and his powers, in this connection, all to run one way. This may be truly said to be a Humor".

Unlike Shakespeare, Jonson gives distorted or imperfect picture of life. In *Volpane* everything is subsidiary to the humor of avarice, which receives unnatural emphasis. In *The Alchemist* there is little to relieve the picture of credibility and hypocrisy, while *The Silent Woman*, has for its leading character is a man whose principle 'humor' or aim in life is avoid noises. Any drama that fails to paint the nobler side of womanhood can be called complete. In Jonson plays we do not find a single women worthy to come near the Shakespearean characters like Cordelia, Imogen, or Desdemona. His limitations are nowhere more marked than in his inability to portray a noble woman. Another reason why he fails to present life completely is shown in the following lines in which he defines the mission of his life: My strict hand was made to seize on vice, and with a gripe squeeze out the humor of such spongy souls as lick up every idle vanity."

Since the world needs building up rather than tearing down , a remedy for an ailment rather than fault finding , the greatest of man cannot mere satirists. Shakespeare displays some fellow feelings for the object of his satire, but Jonson's satire is cold and devoid of sympathy. Jonson deliberately took his stand in opposition to the romantic spirit of the age . Marlowe and Shakespeare had disregarded the classical unities and had developed the drama on romantic lines. Jonson resolved to follow classical traditions and to adhere to unity of time and place in the construction of his plays . The action in the play of The Silent Woman, for instance, occupies only twelve hours.

Jonson's plays show the touch of a conscientious artist with great intellectual ability. His vast erudition is constantly apparent. He is the satiric historian of his time, and he exhibits the follies and the humors of the age under a powerful lens. He is also the author

dainty lyrics and forcible prose criticism. Among the shortcoming of his plays, we may specially note lack of feelings and of universality. He is not a sympathetic observer of manifold life, but presents only what is perceived through the frosted glass of intellect. His art is self conscious. He defiantly opposed the romantic spirit of the age and weakened the drama by making it bear the burden of the classical unities.

Refrence:

01. Johnson Ben, The Cambridge Edition of the Works of Ben Johnson, London, 2012

वर्तमान में समाज एवं भारतीय अर्थव्यवस्था में मीडिया की भूमिका (एक चिन्तन)

डॉ. लता जैन
प्राध्यापक अर्थशास्त्र
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

लोकतन्त्र में मीडिया का चौथा स्तम्भ इसीलिए माना गया है, कि वह तीनों अन्य स्तम्भों का संबल बने। उनकी रचनात्मकता बनाए रखे व उन्हें पारदर्शी बनाए। मीडिया की सबसे बड़ी शान्ति – उसका विवेक है, जो सत्य पर आश्रित व आधारित रहता है। प्रायोजित विवेक मीडिया की साख कम करता है। मीडिया का तकनीकी विकास चाहे जितना हो जाए पर सामाजिक दायित्व के निर्वहन और जवाबदेही से वह मुक्त नहीं हो सकता। इस दायित्व की रक्षा करके ही वह विश्वसनीय हो सकता है, तथा भारत जैसे लोकतन्त्र में अपनी निर्णायक शक्ति अर्जित कर सकता है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। मीडिया के संदर्भ में यह बात शत प्रतिशत सत्य है कि समाचार पत्र किसी राष्ट्र की दैनन्दिन का इतिहास होता है। यह एक ऐसा आइना है जो देश/समाज में रहन सहन, रीति रिवाज, धर्म, परम्पराएँ, कानून, फैशन, जनमत, शासन प्रशासन को प्रतिबिंबित करता है। वर्तमान प्रतियोगितावादी युग में इसे लोकतन्त्र का चतुर्थ स्तम्भ माना गया है।

माध्यमों की सामाजिक भूमिका को लेकर इनके जन्म से ही वाद विवाद होता आ रहा है। आज प्रिन्ट मीडिया की अपेक्षा इलेक्ट्रानिक मीडिया का प्रभाव समाज में परिलक्षित हो रहा है। उदारीकरण तथा भूमंडलीकरण के प्रभावों के कारण माध्यमों की भूमिका भी प्रभावित हुई है तथा आर्थिक लक्ष्यों को हासिल करने की और प्रवृत्त हुई है। आम धारणा यह बन रही है, कि मीडिया काफी कुछ प्रचारात्मक तत्व अतिरंजित कर प्रस्तुत करने लगा है।

माध्यमों की सामाजिक भूमिका को समझने का प्रयास करने पर तीन सामाजिक भूमिकाएँ हमारे सामने आती है– 1. समाजीकरण 2. सामाजिक परिवर्तन 3. सामाजिक नियंत्रण। सामाजिक परिवर्तन में मीडिया की भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं। इस परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत ही धीमे रूप में दिखती है, किन्तु समाज में मान्यताओं और परम्पराआं के परिवर्तन में इस भूमिका का महत्वपूर्ण योगदान है।

सामाजिक नियंत्रण के रू‍प में मीडिया विचारधाराएं, रीति रिवाज, लोक प्रथा, फैशन, परम्परा, नैतिक मूल्य, धर्म आदि के साथ सामाजिक भूमिका निभाकर जनमत् बनाने में मदद करते हैं। अतः माध्यमों की एक सामाजिक भूमिका है तथा इस भूमिका को अत्यंत जिम्मेदार, महत्वपूर्ण एवं सकारात्मक रूप में देखा जाता है।

वर्तमान आधुनिककरण, उदारीकरण एवं पूँजीवाद के कारण आज समाचार पत्रों में विषय वस्तु का गहराई से विश्लेषण करने के स्थान पर आकर्षक प्रस्तुतीकरण पर जोर दिया जा रहा है। धीरे–धीरे पाठकों को इसका आदी बनाया जा रहा है। ''आईज ऑन द न्यूज'' सर्वेक्षण से यह बात स्पष्ट हुई है कि पाठकों की मानसिकता समाचार पत्रों को रोचक चित्रों व साज सज्जा की वजह से पसंद करने की बनती जा रही है। प्रिन्ट मीडिया के साथ–साथ इलेक्ट्रानिक मीडिया भी पूरी तरह से बाजारवाद पर आश्रित है। बीसवी शताब्दी में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने दस्तक दी और टी.वी., कम्प्यूटर, इंटरनेट तथा वेबसाइट ने घरों में झांका ही नहीं वरन् अपना एक विशेष स्थान भी दिनचर्या में शामिल किया।

समाज में बदलाव के वाहक –

समाज में बदलाव के कई मीडिया वाहक है जो नई तकनीकी के साथ सामाजिक प्रगति को दर्शाते हैं। सबसे प्रथम स्तर पर दूरदर्शन ह। दूरदर्शन की स्थापना के समय से ही इसका लक्ष्य था, शिक्षा के प्रसार के साथ जागृति उत्पन्न करना तथा समाज को नई दिशा प्रदान करने के साथ स्वास्थ्य मनोरंजन एवं शिक्षा के कार्यक्रमों को आम जनता तक पहुंचाना।

आज दूरदर्शन मात्र सरकारी दूरदर्शन नहीं रहा। विभिन्न चैनलों के माध्यम से राष्ट्रीय, क्षेत्रीय कार्यक्रमों के साथ प्रकृति, ब्रम्हाण्ड का रहस्य खोलने वाले चैनल भी उपलब्ध है। समाज के हर वर्ग को देश की मुख्य धारा में शामिल करने का प्रयास दूरदर्शन के माध्यम से अच्छी तरह से हो रहा है। कार्यक्रमों के माध्यम से जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों के लिए कृषि, परिवार नियोजन, प्रौढ़ शिक्षा, स्कूल शिक्षा विकास की योजनाएं, महिला, युवा एवं विकास से सम्बन्धित समस्या जैसे – अशिक्षा, कम उम्र में विवाह, यौन शोषण, मजदूर एवं मजदूरी, जमीन का हक, पंचायत में सहभागिता की आवश्यकता पर जोर दिया जा रहा है। वहीं शहरी क्षेत्रों में आम आदमी से जुड़ने के कार्यक्रम, शहरी उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग एवं आम वर्ग से जुड़ी पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं पर भी सीरियलों के माध्यम से फोकस किया जा रहा है। ज्ञानवर्धक चैनलों जैसे– नैशनल ज्योग्राफी, डिस्कवरी, एनीमल प्लेनेट तथा यूजीसी के कार्यक्रमों के द्वारा किशोरों, युवाओं में उज्जवल भविष्य के साथ आशा का संचार किया जा रहा है। लगभग सभी कार्यक्रम सामाजिक परिवर्तन ला रहे हैं। तकनीकी विकास एवं हस्तांतरण के माध्यम से आम आदमी के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये हैं। दूरदर्शन के विकास के साथ समाज कल्याण के क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई है। दूरदर्शन परिवार जिस प्रकार बढ़ता जा रहा है उसी प्रकार इसके दायित्व भी बढ़ते जा रहे है, ताकि सामाजिक परिवर्तन सही दिशा में हो सकें।

सामाजिक बदलाव की दूसरी वाहक आकाशवाणी है। माना कि दूरदर्शन के प्रभाव ने आकाशवाणी का महत्व कम किया है, किन्तु दूरदर्शन के कार्यक्रमों से उबते दर्शकों ने आकाशवाणी की ओर पुनः रूख किया है आज भी देश के लाखों गाँवों एवं दूरस्थ क्षेत्रों में आकाशवाणी उच्च तकनीकी से युक्त ट्रांजिस्टर, रेडियो के माध्यम से सर्व सुलभ है। ट्रांजिस्टर के आविष्कार से रेडियो निर्माण में क्रांति आ गई है, कम कीमत में इससे सस्ता, सुगम साधन उपलब्ध नहीं है।

समाज एवं आकाशवाणी के सम्बन्ध एवं प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप से देखने पर स्पष्ट है कि आकाशवाणी सामाजिक बदलाव की वाहक है कार्यक्रमों में विशेष महिला कार्यक्रमों में कानूनी अधिकारों, कल्याण कार्यक्रमों एवं विकास कार्यक्रमों की चर्चा प्रमुख है। भारतीय संविधान में देश के सभी नागरिकों को समान आधार पर लाकर सभी प्रकार के भेदभावों, जन्म, धर्म और लिंगपर आधारित असमानताओं को समाप्त करने का जो वचन दिया है, संविधान का यह संदेश लोगों तक पहुँचाने में आकाशवाणी ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। सच तो यह है कि आज आकाशवाणी को कोई कितना भी नकरात्मक सिद्ध करे मगर जनसामान्य में चेतना जगाने एवं परिवर्तन लाने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है।

हिन्दी एवं क्षेत्रीय भाषाओं के रूपक भी सामाजिक परिवर्तन कर रहे है। आकाशवाणी ने बाल विवाह, दहेज, मादक पदार्थो का सेवन, घर परिवार, ग्रामीण विकास, कृषि सशक्तिकरण कुरीतियों के खिलाफ सतत् आन्दोलन चलाया है।

तीसरा सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु फिल्में हैं। फिल्मों की सामाजिक उपयोगिता पर चर्चा करें तो यह भी यह भौतिक एवं कलात्मक वस्तुओं की तरह सामाजिक जीवन से प्रस्फुटित होती है। उसी का चित्रण करती है तथा नकारात्मक या सकारात्मक रूप में सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है। संयुक्त परिवारों का महत्व, टूटता ग्रामीण परिवेश, भौतिकता की यथार्थता, धार्मिक समर्पणता, भय एवं पारलौकिकता, युवाओं का दिग्भ्रमित होना आदि की कई समस्याओं पर फिल्मों में प्रकाश डाला है।

आजकल फिल्मों में जहां एक ओर पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं को बहुत ही उम्दा तरीके से प्रस्तुत किया है वहीं चकाचौंध से उपजी फिल्मों ने युवाओं में परिवारों में विभाजन के बीज बोये हैं। धार्मिक विषयों, संतों की जीवनी, इतिहास आधारित फिल्में, स्वतंत्रता आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में आई फिल्में, विज्ञान आधारित फिल्में, सामाजिक बुराईयों पर प्रहार करती फिल्में आदि में भारतीय सिनेमा का ऐतिहासिक योगदान है। निरंतर उन्नत प्रौद्योगिकी ने फिल्मों के निर्माण को सरल तो किया ही है साथ ही स्पेशल इफेक्ट के माध्यम से नई क्रांति उत्पन्न की है। आज दूरदर्शन एवं संचार माध्यम के विकास के साथ फिल्मों की जिम्मेदारी और बढ़ गई हैं । संचार माध्यमों के विकास के साथ–साथ सामाजिक उत्थान के क्षेत्र में भी वृद्धि हुई है। दूरदर्शन, आकाशवाणी के कार्यक्रम जिस

प्रकार बढ़ते जा रहे हैं उसी प्रकार इनके दायित्व भी बढ़ते जा रहे हैं। इसलिए आवश्यक है कि इन कार्यक्रमों में आम आदमी को ज्यादा से ज्यादा शामिल किया जाए।

मिडिया आधारित तथ्यों और आँकड़ों से मुख्य बिन्दु –

1. भारतीय फिल्म उद्योग का कुल आकार 8,500 करोड़ रू. का है तथा इसका विदेशी बाजार करीब 750 करोड़ रू. है।
2. एशिया प्रशान्त क्षेत्र में करीब 73 प्रतिशत फिल्मों की आपूर्ति भारत से ही होती है।
3. भारत के 12000 सिंगल स्क्रीन और 350 मल्टीप्लेक्स हर साल 1000 से ज्यादा फिल्मों को प्रदर्शित करते हैं।
4. भारतीय डिजिटल म्यूजिक उद्योग का कोरिया के बाद दूसरा स्थान है।
5. 109 मिलियन टेलीविजन और 61 मिलियन केवल टीवी वाले घरों के साथ भारत में टेलीविजन का संसार अमरीका के बराबर है आशा है कि सन् 2015 तक भारत जापान को पीछे छोड़कर एशिया प्रशान्त का सबसे बड़ा 'पे टीवी' मार्केट बन जाएगा।
6. भारत का प्रथम समाचार पत्र 'बंगाल गजट' 27 जनवरी, 1780 को जे.ए. हिक्की द्वारा कोलकाता से प्रकाशित किया गया।
7. समाचार –पत्र पंजीयक (1 जुलाई 1956 को स्थापित) द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट के अनुसार 31 मार्च, 2007 तक देश में पंजीकृत समाचार पत्र/पत्रिकाओं की कुल संख्या 65032 थी, इनमें 7.131 दैनिक 374 त्रि/द्वि साप्ताहिक, 22116 साप्ताहिक, 8547 पाक्षिक, 19456 मासिक, 4470 त्रेमासिक, 605 वार्षिक तथा 2333 अन्य समयावधियों के थे।
8. भारत की सबसे बड़ी समाचार एजेंसी प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया (पी.टी.आई.) की स्थापना 27 अगस्त, 1947 को हुई और इसने 1 फरवरी, 1949 से एक सहकारी संस्था के रूप में अपनी सेवाऐं प्रारंभ कर दी।
9. देश में United News of India – UNI की स्थापना 19 दिसम्बर, 1959 को हुई और इसने 21 मार्च, 1961 से कार्य प्रारंभ किया इसने 1982 से 'यूनीवार्ता' का शुभारम्भ किया।
10. जन–संचार राष्ट्रीय प्रलेखन केन्द्र (MDCMC) की स्थापना 1976 में की गई।
11. भारत में रेडियो प्रसारण की शुरूआत 1920 के दशक में हुई, पहला कार्यक्रम 1923 में मुम्बई के रेडियो क्लब द्वारा प्रसारित किया गया।
12. भारत में दूरदर्शन का पहला प्रसारण 15 सितम्बर 1959 को प्रयोगात्मक आधार पर आधा घण्टे के लिऐ शैक्षिक और विकास कार्यक्रमों के रूप में हुआ था, टेलीविजन की नियमित शुरूआत दिल्ली– 1965 में, मुम्बई–1972 में, कोलकता–1975 में, चैन्नई–1975 में हुई रंगीन प्रसारण की शुरूआत सन 1982 में नई दिल्ली में हुई।

13. देश में 16 दिसम्बर 2004 को 33 टीवी चैनलों तथा 12 रेडियो चैनलों के साथ DTH सेवा (Direct to Home Service) शुरू हुई वर्तमान में इस सेवा को पूरे देश में अनिवार्य किया जा रहा है।
14. वर्तमान में दूरदर्शन के 5 अखिल भारतीय चैनल, 11 क्षेत्रीय भाषाओं के उपग्रह चैनल तथा 11 राज्य नेटवर्क चैनल संचालित किए जा रहे है।
15. देश में 24 घण्टे के समाचार चैनल 'DD News' की शुरूआत 3 नवम्बर 2003 से हुई और 18 मार्च 1999 को खेल चैनल 'DD Sports' की शुरूआत हुई।
16. देश का सार्वजनिक सेवा प्रसारक दूरदर्शन आज विश्व के सबसे बड़े टेलीविजन नेटवर्क की श्रेणी में आता है।
17. दूरदर्शन और आकाशवाणी की गतिविधियों के संचालन व नियंत्रण हेतु 23 नवम्बर 1997 को सार्वजनिक प्रसारण सेवा के रूप में 'प्रसार भारती' का गठन किया गया।
18. वर्तमान में देश में आकाशवाणी के 231 केन्द्र हैं।
19. आज देश के 14 बड़े शहरों में 'न्यूज ऑन फोन सेवा' उपलब्ध है।
20. विश्व में मीडिया और मनोरंजन क्षेत्र के लिहाज से भारत प्रथम तीन राष्ट्रों में शामिल है।
21. भारतीय विज्ञापन उद्योग प्रति चार वर्ष में दोगुनी वृद्धि दर्शा रहा है।
22. सन् 2013 तक भारतीय विज्ञापन उद्योग के 61 प्रतिशत तक बढ़ने की संभावना है।
23. फिक्की द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार दिसम्बर 2009 तक 2200 करोड़ रू. में तब्दील होने वाली 'Event Industry' हर वर्ष करीब 300 प्रतिशत की दर के साथ बढ़ रही है।
24. वर्तमान में 500 से ज्यादा बड़ी इवेंट फर्म और हजारों छोटी फर्मे भारत में सक्रिय हैं।
25. वर्ष 2006 में भारतीय मीडिया और एंटरटेनमेंट उद्योग लगभग 437 बिलियन रूपए रहा है, जो 2011 तक 1 ट्रिलियन रू. का होकर इस उद्योग के 2012 तक 1.157 ट्रिलियन रूपए तक पहुँचा।
26. आज भारत में रेडियों का सालाना बाजार करीब 500 करोड़ रू. का है और इसमें हर वर्ष 40 प्रतिशत की बढ़ोतरी हो रही है।
27. विशेषज्ञों के मतानुसार 'FM-II Policy' की वजह से रेडियो उद्योग मौजूदा 5 बिलियन रूपए से 2011 तक 17 बिलियन रूपए का हो गया।
28. भारतीय मीडिया और मनोरंजन उद्योग के संदर्भ में फिक्की द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार 2007–08 में भारतीय गेमिंग उद्योग को 270 करोड़ रू. की आमदनी हुई, जो कि 2006–07 में 205 करोड़ रू. से 32 प्रतिशत ज्यादा है।

मीडिया एवं मनोरंजन उद्योग (भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार)

मीडिया और मनोरंजन उद्योग Media and Entertainment (M&E) Industry) एक प्रकार का चक्रीय उद्योग है जो आर्थिक विकास और आय–स्तर में वृद्धि के साथ तीव्र गति से प्रगति के सोपान रेखांकित करता है, आज यह उद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था के तीव्रतम विकासोन्मुखी उद्योगों की श्रेणी में शामिल हो चुका है, टेलीविजन, सिनेमा, रेडियो, विज्ञापन, संगीत, ईवेंट प्रबन्धन जैसे अनेक संघटकों को समाहित करने वाला भारतीय मीडिया और मनोरंजन उद्योग 19 प्रतिशत की संयुक्त वार्षिक वृद्धि दर [Compounded Annual Growth Rate-CAGR] से बढ़ रहा है, यह उद्योग आज 530 अरब रू. का हो गया है जबकि वर्ष 2006–2007 में 438 अरब रू. का ही था, **'प्राइसवाटरहाऊसकूपर'** (PWC) द्वारा जारी नवीनतम रिपोर्ट के अनुसार सन् 2012 तक भारतीय मीडिया और मनोरंजन उद्योग 1.157 खरब रू. का हो चुका है।

एसोचैम [Associated Chembers of Commerce and Industry of India] द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार विश्व में मीडिया और मनोरंजन क्षेत्र के लिहाज से भारत विश्व के प्रथम तीन देशों में शामिल है, जहाँ तक एशियाई देशों की बात करें तो वहाँ यह क्षेत्र 8.8 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ रहा है और सन् 2012 तक सम्पूर्ण एशिया का यह बाजार 508 अरब डॉलर तक पहुँचेगा। गौरतलब तथ्य यह भी है कि आने वाले समय में इण्डोनेशिया, सऊदी अरब, वियतनाम, टर्की, पाकिस्तान आदि राष्ट्रों का मीडिया और मनोरंजन उद्योग भी 'हॉट क्षेत्र' बन जाएगा, अतः निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि एशिया प्रशान्त क्षेत्र मनोरंजन के लिहाज से विश्वभर में काफी अग्रणी भूमिका अदा कर रहा है।

समग्र रूप से देखा जाए तो यह कहा जा सकता हे कि भारतीय मीडिया और मनोरंजन उद्योग के मुख्यतः दो स्वरूप हैं– एक मनोरंजन और दूसरा समाचार मनोरंजन क्षेत्र, विज्ञापन के लिहाज से काफी आकर्षक है और यह देश में आज प्रतिवर्ष करीब 26 हजार करोड़ रू. की राशि के विज्ञापन बटोर रहा है, जबकि समाचार से जुड़ा मीडिया 17 हजार करोड़ रू. के लगभग विज्ञापन जुटा रहा है।

17 फरवरी, 2009 को फिक्की (Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry) और के.पी.एम.जी. नामक सलाहकार कम्पनी द्वारा जारी संयुक्त रिपोर्ट के अनुसार आज अमरीका के बाद न्यूज का दूसरा बड़ा बाजार भारत बन गया है, भारत में अभी प्रिंट मीडिया से 60 हजार अखबार जुड़े हुए हैं और 67 न्यूज चैनल संचालित हो रहे हैं, उल्लेखनीय है कि आज देश में अखबारों की कुल प्रसारित प्रतियाँ 9.95 करोड़ के करीब है और इनकी दैनिक पाठक संख्या 31 करोड़ के लगभग है, दूसरी ओर 67 न्यूज चैनलों को 11.5 करोड़ से अधिक टीवी सेट पर 58 करोड़ लोग देखते हैं। साथ ही आज देश में मोबाइल फोन भी मीडिया का बड़ा माध्यम बनता जा रहा है। अनेक मोबाइल सेवा प्रदाता कम्पनियाँ मोबाइल के जरिए खबरें भी प्रेषित करती हैं, गौरतलब तथ्य यह भी है कि मोबाइल ग्राहकों की संख्या के लिहाज से आज भारत विश्व में चीन के बाद दूसरे स्थान पर है। इसके अलावा आज भारत में 6 करोड़ लोग इंटरनेट का उपयोग करते हैं तथा 13 लाख लोग ब्लॉगर्स बने हुए हैं जो इंटरनेट सर्फिंग के समय प्रसारित की जाने वाली खबरों पर नजर रखते हैं तथा प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते है।

विशेषज्ञों के मतानुसार करीब 12.5 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि करने वाला भारतीय विज्ञापन उद्योग का आज वार्षिक कारोबार 22,800 करोड़ रू. है जो सन् 2010 तक 36,731 करोड़ रू. तक पहुँच चुका है। भारतीय विज्ञापन उद्योग प्रति चार वर्ष में दोगुनी वृद्धि दर्शा रहा है और इसमें से सबसे अधिक इजाफा टेलीविजन और प्रिंट मीडिया के माध्यम से विज्ञापन देखा जा रहा है, लन्दन आधारित मीडिया प्लानिंग एवं एडवरटाइजिंग समूह 'जैनिथ ऑप्टीमीडिया' की रिपोर्ट के अनुसार विज्ञापनदाता द्वारा जब प्रति 100 रू. विज्ञापन पर खर्च किया जाता है, तो 91 रू. टेलीविजन और प्रिंट विज्ञापन पर, 5 रू. आउटडोर विज्ञापन पर तथा शेष 4 रू. अन्य विज्ञापन माध्यमों पर खर्च किया जाता है। रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2011–12 में ग्लोबल स्तर पर विज्ञापन उद्योग 17 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर्ज कर रहा है।

भारतीय मीडिया के विभिन्न संघटकों की सहभागिता (एक नजर में)

संघटक	वर्ष 2006–07	वर्ष 2011–12
1. टेलीविजन	45 प्रतिशत	51 प्रतिशत
2. सिनेमा/फिल्म	19 प्रतिशत	18 प्रतिशत
3. म्यूजिक	02 प्रतिशत	01 प्रतिशत
4. ईवेंट मैनेजमेंट	02 प्रतिशत	02 प्रतिशत
5. रेडियो	01 प्रतिशत	02 प्रतिशत
6. अन्य	31 प्रतिशत	26 प्रतिशत

Source: www.watplog.com

माध्यम और समाज में परिवर्तन का एक नकारात्मक पहलु

नकारात्मक दृष्टिकोण से देखे तो मीडिया ने नई पीढ़ी के सामने तर्क, बुद्धि, चिन्तन, मनन एवं मौलिक मानवीय मूल्यों को तोड़ मरोड़ कर पेश किया है जिसमें मान्यताओं व परम्पराओं को तोड़ने के लिए नए–नए सीरियल लंच व डिनर के साथ–साथ प्रस्तुत हो रहे है। लव गुरू मटुक नाथ चौधरी, गुड़िया की कहानी, धनंजय चटर्जी ऐसे कई उदाहरण है जो बच्चों एवं युवाओं की मानसिकता को प्रभावित कर रहे है। युवा पीढ़ी को साबुन, शैंपू, विज्ञापन एक्शन थ्रिलर दिखाकर जड़वत व भौतिकवादी सोच की ओर ले जाया जा रहा है। परिवार में अदब कायदे के अर्थ भी पीढ़ी दर पीढ़ी अर्थहीन होकर समाजीकरण के पराभव पर प्रभाव डाल रहे हैं।

चमकदार विज्ञापन बाजारवाद के शिकंजे को और भी मजबूत कर रहे है, जिसके प्रभाव से सामान्य वर्ग अपने आपको बहुत छोटा और मजबूर महसूस करने लगता है, अर्न्तद्वन्द में लाकर रखता है, जो सच नहीं है उसे ही सच करके दिखाया जा रहा है। दृश्य मीडिया का टेलीविजन छोटा परदा एक प्रभावी माध्यम है। इसने न केवल हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को प्रभावित किया है अपितु, व्यक्ति

की अस्मिता और उससे भी आगे प्रतिदिन बालात्कार, सेक्स कॉलगर्ल तथा हर क्षेत्र में महिलाओं का शोषण नारी अस्मिता पर दोयम श्रेणी की मानसिकता को चित्रांकण कर रहा है।

मीडिया ने अपने अस्तित्व, प्रतियोगितावाद को बचाने के लिए हर उस दृश्य व सामग्री को अपनाया है, जिसे उसने 'आधुनिकीकरण' का जामा पहनाने का नाम दिया है। जो युवक–युवतियों को आधुनिक मानसिकता के बदले रीति–रिवाज व संस्कारों से तटस्थ कर रहे हैं। इसी के कारण 75 युवा वर्ग अपने ही परिवार में बगावत का बिगुल बजा रहे है। सन् 2006 में किए गए एक सर्वे से यह तथ्य सामने आया कि, मध्यमवर्गीय परिवार के बच्चे व युवा दृश्य मीडिया से प्रभावित हो आत्महत्या व हत्या करने में भी नहीं हिचकते।

आज मीडिया ने संपूर्ण समाज के लिए अनगिनत चुनौतियां और अनेक प्रश्न खड़े कर दिए है। दिखाए जाने वाले बहुचर्चित सीरियल्स आम आदमी की स्थिति, पेंडुलम की तरह कर जीवन मूल्यों में टकराहट पैदा कर पथभ्रष्टता का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। जो निराशा व हताशा को जन्म दे रहे हैं क्योंकि मध्यमवर्ग जीवन में कुछ एवं परदे पर कुछ और देख रहा है। जीवन के सारे मूल्य संक्रमित हो रहे है। फास्ट फुड कल्चर एवं पारिवारिक संबंधों की विकृति व प्रदूषण (विवाह तलाक बहुविवाह) आने वाली पीढ़ी इसे स्वच्छंद मानसिकता व अधिकार के रूप में देख रहा है।

नई तकनीकी का एक नकारात्मक पहलू जिसने परिवार एवं समाज पर जो नकारात्मक प्रभाव डाला है वह हैं सामाजिक संबंधों में दूरियाँ। अब व्यक्ति एक दूसरे के घर आते जाते नहीं है, जबकि सामाजिक संबंधों को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है दूरदर्शन के कार्यक्रमों को देखने की विवशता आपसी प्रेम, प्रगाढ़ता पर नकारात्मक प्रभाव डाल रही हैं। हाल ही के वर्षों में दूरदर्शन के विभिन्न चैनलां ने बड़ी संख्या में दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित किया है। वहीं उसने दूसरी और लोगों के बीच सम्बन्धों को कमजोर किया है। इसका प्रभाव परिवारों एवं समाज पर कैसा पड़ेगा यह तो आने वाला भविष्य ही बतायेगा।

निष्कर्ष –

स्पष्ट है कि मीडिया बाजार के दबाव में है जबकि आवश्यकता है बाजार में दबाव बढ़ाने की। माध्यमों की एक सामाजिक भूमिका है, इसे जिम्मेदार, महत्वपूर्ण एवं सकारात्मक बनाने के लिए इन्हें कठपुतली की भूमिका परिधि से निकलकर सही अर्थों में सामाजिक भूमिका अदा करनी होगी, जो सामाजिक मानसिकता को विकृत होने से बचाने के साथ–साथ भारतीय संस्कृति सभ्यता को स्थापित कर सकें।

मीडिया का सामाजिक दायित्व अपराध की प्रवृत्ति को बढ़ने नहीं देना एवं सामाजिक, नैतिक मूल्यों की रक्षा करना है। वह यह कह कर मुक्ति पा सकता की जैसा समाज है, वैसा ही वह दिखा, पढ़ा रहा है। यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो दर्पण की मैला नहीं होने देने एवं समाज के चेहरे पर कालिख नहीं लगने दने की कुछ प्रतिशत जिम्मेदारी मीडिया की है।

अतः मीडिया को प्रोद्यौगिकी एवं विज्ञान का सही इस्तेमाल कर लोगों को नई जानकारियाँ देना, प्रश्नों के प्रति जागरूक बनाना है। ''सामाजिक प्राणी'' होने के नाते, सामाजिक सम्बन्धों को जीवित रखना अनिवार्य हैं, अन्यथा आदमी एकाकी हो जायेगा, समाज बिखर जायेगा। अतः नीति निर्धारित करने वालों को यह भी सोचने की जरूरत है कि मीडिया की दिशा क्या हो।

''स्थायित्व सहभागिता के स्वरूप और उसकी गुणवत्ता से आता है। क्या सोशल मीडिया की भाषा बदलाव की भाषा बन पायेगी ? यदि हाँ तो फिर किस तरह का बदलाव ? यह जानने के लिये भी हमें प्रतीक्षा करनी होगी।''

सन्दर्भ अध्ययन –

1. स्वामी रंगनाथानंद, परिवर्तनशील समाज के लिये शाश्वत मूल्य रामकृष्ण, नागपुर।
2. दैनिक अखबारों की सुर्खिया एवं लेख।
3. इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मास कम्युनिकेशन, नई दिल्ली।
4. एकेडेमी ऑफ रेडियो मेनेजमेंट दिल्ली
5. पायनियर मीडिया स्कूल नई दिल्ली के बुलेटिन

भारत में लिंग संतुलन का अध्ययन
Study of Gender Balance in India

प्रो. अलका जैन
सहायक प्राध्यापक
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

वर्तमान में विश्व की तीसरी सबसे बड़ी और चीन के बाद दूसरी आर्थिक वृद्धि वाली अर्थव्यवस्था भारत का जनसंख्या की दृष्टि से चीन के बाद दूसरा स्थान हैं। विश्व के 2.4 प्रतिशत क्षेत्रफल में रहने वाली भारत की 17.5 प्रतिशत जनसंख्या का विश्व राष्ट्रीय आय में 1.2 प्रतिशत योगदान चिंताजनक एवं जनसंख्या के दबाव को दर्शित करता है। 121.43 करोड़ जनसंख्या वाले देश में 1000 पुरूषों पर 980 स्त्रियाँ एवं घटता लिंगानुपात अर्थात् लिंग असंतुलन एक बड़ी गंभीर एवं दीर्घकालीक समस्या है जो हमारी जनांकिकीय संरचना को विकृत कर रही है। लिंग संतुलन जनसंख्या की जन्मदर, मृत्यु दर व प्रवास को प्रतिबिंबित करता है। तेजी से बढ़ रही कन्या भ्रूण हत्या के फलस्वरूप निरंतर बिगड़ रहा लिंगानुपात निती निर्धारको समाजशास्त्रियों एवं विकास के प्रबल पक्षधरों के समक्ष चुनौती बनकर उभरा है। वास्तव में यह समाज और देश के संतुलन के लिए बहुत ही घातक एवं चिंतनीय सामाजिक समस्या है। यही कारण है कि इस समस्या के अध्ययन को मैने अपने शोध पत्र का विषय चुना।

अध्ययन का उद्देश्य एवं विधि :

प्रस्तुत शोध पत्र के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

★ भारत में लिंग संतुलन की स्थिति का अध्ययन करना।

★ लिंग अनुपात में विश्व में भारत की स्थिति जानना एवं भारत के विभिन्न राज्यो में लिंग संरचना की तुलनात्मक स्थिति का अध्ययन करना।

★ लिंग असंतुलन के कारणों को ज्ञात करना तथा इसके दुष्प्रभावों की व्याख्या करना।

★ निष्कर्ष एवं सुझाव प्रस्तुत करना।

प्रस्तुतशोध पत्र पूर्णतः द्वितीयक समंको पर आधारित है। अध्ययन क्षेत्र समग्र भारत को लिया गया है। विश्लेषण, व्याख्या एवं तुलनात्मक अध्ययन विधि द्वारा उद्देश्यों का

अध्ययन कर निष्कर्ष निकाले गए है। सांख्यिकीय रीतियों में औसत प्रतिशत एवं अनुपात का प्रयोग किया गया है।

भारत में लिंग असंतुलन की प्रवृति :

लिंग संतुलन की माप का एक सशक्त एवं बड़े पैमाने पर प्रयोग होने वाला औजार लिंगानुपात हैं। लिंगानुपात अर्थात 1000 पुरूषों के पीछे स्त्रियों की संख्या। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में कुल 1,21,01,93,422 जनसंख्या में 62,37,24,248 पुरूष और 58,64,69,174 स्त्रियाँ हैं अर्थात लिंगअनुपात 940 हैं। यह घटता लिंग अनुपात एक बड़ी समस्या के रूप में उभर रहा है।

दुनिया की आधी आबादी स्त्रियाँ जो सृष्टि की जनक, सामाजिक व्यवस्था का आधार एवं आर्थिक स्वतंत्रता की द्योतक है, भूतकाल से कई रूढ़ियों एवं अत्याचारों की शिकार बनती चली आ रही है जिसके फलस्वरूप भारत में लिंग अनुपात लगातार घटता जा रहा है। जो महिलाओं के लिए ऐतिहासिक रूप से नकारात्मक एवं अहितकारी है। तालिका क्र. 1 भारत में लिंग अनुपात की प्रवृति को दर्शाती है :–

तालिका क्र. 1
भारत में लिंग अनुपात की प्रवृति

जनगणना वर्ष	लिंग अनुपात (1000 पुरूषों पर महिलाएँ)	वृद्धि / कमी
1901	972	–
1911	964	– 8
1921	955	–9
1931	950	–5
1941	945	–5
1951	946	1
1961	941	–5
1971	930	–11
1981	934	4
1991	927	–7
2001	933	6

2011	940	7

स्त्रोत : – Govt. of India, Ministry of Home Affairs, provisional Population, स्टेटमेंट 12, पृष्ठ क्र. 81

तालिका क्र. 1 से स्पष्ट है कि भारत में लिंग अनुपात की प्रवृति पर दृष्टि डाले तो ज्ञात होता है कि स्वतंत्रता के पूर्व भारत में 1901 से लिंग अनुपात 972 से लगातार घटकर 1951 में 946 हो गया तथा इसके पश्चात दो दशक में और घटकर 1971 में 930 रह गया अर्थात 1961 से 1971 के बीच लिंगानुपात तेजी से गिरकर 11 प्वाईंट कम हो गया जबकि 1971 के बाद 1981 में यह 4 प्वाइंट बढ़ा तथा 1991 में 7 प्वाइंट घटा, लेकिन पिछले दो दशक में अनुकूल स्थिति रही। 2001 में 6 प्वाइंट एवं 2011 में 7 प्वाइंट की बढ़ोतरी लिंग संतुलन के लिए सुखद संकेत है। लेकिन यदि विश्व के विकसित देशों के लिंगानुपात के आकड़े को देखे तो वहां लिंग अनुपात 1 से अधिक हैं। प्रवीण विसारिया का कथन है कि ''अधिकतर विकसित देशों में जनसंख्या में स्त्रियों का अनुपात अधिक है ऐसा जैविक कारणों से है। स्त्रियों की सामान्य आयु भी पुरूषों की अपेक्षा अधिक होती है।'' तालिका क्र. 2 विश्व के प्रमुख देशों के लिंगानुपात को दर्शाती है –

तालिका क्र. 2

विश्व के प्रमुख देशों के लिंग अनुपात में भारत की स्थिति

क्र.	**देश / विश्व**	**2001**	**2011**	**वृद्धि / कमी**	**2011 में स्त्री पुरूष अनुपात**
	विश्व	**986**	**984**	**–2**	.984<1
1	चीन	944	926	–8	.926<1
2	भारत	933	940	7	.940<1
3	यू.एस.ए.	1029	1025	–4	1.025>1
4	इंडोनेशिया	1004	988	–16	.988<1
5	ब्राजील	1025	1042	17	1.042>1
6	पाकिस्तान	938	943	5	.943<1

7	सोवियत रूस	1140	1167	27	1.167>1
8	बांग्लादेश	958	978	20	.978<1
9	जापान	1041	1055	14	1.055>1
10	नाईजीरिया	1016	987	–29	.987<1

स्त्रोतः – 2001 world population prospects (mid year Estimates) 1998, 2011 world population prospects 2008 revision UN., India provisional census 2011, इंडोनेशिया और ब्राजील 2010 राउंड आफ Census.

तालिका क्र. 2 से स्पष्ट है कि विश्व में लिंग अनुसार जनसंख्या की संरचना एक समान न होकर अलग–अलग है। विश्व के प्रमुख 10 देशों में यू.एस.ए, रूस ब्राजील एवं जापान में 1000 पुरूषों पर स्त्रियों की संख्या ज्यादा है जबकि अन्य छः देशो में स्त्रियों की संख्या पुरूषों से कम है। यदि हम पिछले दशक से तुलना करे तो चीन, इंडोनेशिया, नाइजीरिया और यू.एस.ए में इस दशक में तुलनात्मक रूप से लिंग अनुपात घटा है, नाइजीरिया और इंडोनेशिया में यह क्रमशः 29 एवं 16 ज्वाइंट कम हुआ है, जो अत्यन्त कम है। रूस, बंग्लादेश जापान, ब्राजील में यह सूक्ष्म बदलाव के साथ तेजी से बढ़ा है। भारत की स्थिति ज्ञात की जाय तो लिंग अनुपात 1 से कम रहा है किन्तु 1901 की तुलना में 1911 में 7 ज्वाइंट की वृद्धि एक अच्छा संकेत हैं, अभी इसे और उन्नत करने की आवश्यकता है। यदि हम भारत के पड़ौसी राज्यों में भारत की स्थिति देखे तो एक मिश्रित स्थिति दिखाई देती है। जहाँ मयनमार, श्रीलंका एवं नेपाल में स्त्रियों की संख्या अधिक है वही चीन, पाकिस्तान, बांग्लादेश, अफगानिस्तान एवं भुटान में स्त्रियो की संख्या प्रति हजार पुरूषों पर कम है तथा लिंग अनुपात एक से कम (<1) है। उल्लेखनीय है कि भारत सहित बाकी पड़ौसी देशी में जहाँ पिछले दशक की तुलना में इस दशक में लिंग अनुपात में वृद्धि 1 से 37 प्वाइंट तक की हुई है वही चीन एवं भुटान में क्रमशः 18 एवं 22 प्वाइंट की कमी हुई है जो चिंताजनक है जिसे तालिका क्र. 3 में दर्शाया गया है :

तालिका क्र. 3

पड़ौसी देशों के लिंग अनुपात में भारत की स्थिति

क्र.	देश	2001	2011	वृद्धि / कमी	स्त्री पुरूष अनुपात (2011)

1.	भारत	933	940	7	.940 < 1
2.	चीन	944	926	-18	.926 < 1
3.	पाकिस्तान	938	943	5	.943 < 1
4.	बांग्लादेश	958	978	20	.978 < 1
5.	श्रीलंका	1010	1034	24	1.034 > 1
6.	नेपाल	1005	1014	9	1.014 > 1
7.	अफगानिस्तान	930	931	1	.931 < 1
8.	भूटान	919	897	-22	.897 < 1
9.	मयनमार	1011	1048	37	1.048 > 1

स्त्रोत : 2001 world population prospects, 2011 world population prospects, India Provisional census 2011.

★ भारत के विभिन्न राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में लिंग अनुपात की तुलनात्मक स्थिति का अध्ययन :

भारत के विभिन्न राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में लिंग अनुपात की स्थिति में बहुत अन्तर है यह अधिकतम 1084 और न्यूनतम 618 हैं अर्थात 466 ज्वाईंट का अन्तर है, जो विभिन्न राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों में लिंगानुपात में अन्तर के फैलाव को दर्शाता है।

तालिका क्र. 4 में भारत के विभिन्न राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में लिंगानुपात की तुलनात्मक स्थिति को दर्शाया गया है :–

तालिका क्र. 4

भारत के विभिन्न राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में लिंगानुपात की स्थिति

क्र.	भारत/राज्य/ केन्द्रशासित प्रदेश	लिंगानुपात		वृद्धि/कमी	2011 में स्त्री पुरूष अनुपात
		2001	2011		
	भारत	**933**	**940**	**7**	**.940 < 1**
1	जम्मूकश्मीर	892	883	-9	.883 < 1

2	हिमाचल प्रदेश	968	974	6	.974 < 1
3	पंजाब	876	893	17	.893 < 1
4	चंडीगढ़	777	818	41	.818 < 1
5	उत्तराखंड	962	963	1	.963 < 1
6	हरियाणा	861	877	16	.877 < 1
7	दिल्ली	821	866	45	.866 < 1
8	राजस्थान	921	926	5	.926 < 1
9	उत्तरप्रदेश	898	908	10	.908 < 1
10	बिहार	919	916	-3	.916 < 1
11	सिक्कीम	875	889	14	.889 < 1
12	अरूणाचल प्रदेश	893	920	27	.920 < 1
13	नागालैंड	906	931	25	.931 < 1
14	मणिपुर	974	987	13	.987 < 1
15	मिजोरम	935	975	40	.975 < 1
16	त्रिपुरा	948	961	13	.961 < 1
17	मेघालय	972	986	14	.986 < 1
18	असम	935	954	19	.954 < 1
19	पश्चिम बंगाल	934	947	13	.947 < 1
20	झारखण्ड	941	947	6	.947 < 1
21	उड़ीसा	972	978	6	.978 < 1
22	छत्तीसगढ़	989	991	2	.991 < 1
23	म.प्र.	919	930	21	.930 < 1
24	गुजरात	920	918	-2	.918 < 1
25	दमन एवं दीप	710	618	-92	.618 < 1

26	दादर नागर हवेली	812	775	-37	.775 < 1
27	महाराष्ट्र	922	925	3	.925 < 1
28	आंध्रप्रदेश	978	992	14	.992 < 1
29	कर्नाटक	965	968	3	.968 < 1
30	गोवा	961	968	7	.968 < 1
31	लक्षदीप	948	946	-2	.946 < 1
32	केरल	1058	1084	26	1.084 > 1
33	तमिलनाडू	987	995	8	.995 > 1
34	पांडिचेरी	1001	1038	37	1.038 < 1
35	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	846	878	32	.878 < 1

स्त्रोत :–Provisional Population Totals, Govt. of India, Ministory of Home affairs. P. 88.

तालिका क्र. 4 से स्पष्ट है कि 2011 की जनगणना में राज्यों में केवल केरल एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में केवल पांडिचेरी को छोड़कर सभी राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में स्त्री पुरूष अनुपात 1 से कम है। जहाँ राज्यों के लिंगानुपात में भारत के दक्षिण के राज्यों केरल (1084), तमिलनाडू (995) एवं आन्ध्रप्रदेश (992) में अधिकतम लिंग अनुपात हैं वही उत्तर पूर्व के राज्यों हरियाणा (877), जम्मुकश्मीर (883), एवं सिक्किम (889), में न्यूनतम लिंग अनुपात है।

केन्द्रशासित प्रदेशों में जहाँ अधिकतम तीन केन्द्रशासित प्रदेशों पांडिचेरी (1038), लक्षद्वीप (946), एवं अण्डमान निकोबार द्वीप समूह (878) में लिंग अनुपात है। वही न्यूनतम लिंग अनुपात दमनदीप (618), दादरा नागर हवेली (775), तथा चंडीगढ़ (818) में रिकार्ड किया गया है।

2001 के लिंग अनुपात से तुलना करे तो ज्ञात होता है कि तीन राज्यों बिहार (–3), गुजरात (–2), एवं जम्मुकश्मीर (–9) तथा तीन केन्द्र शासित प्रदेशों दादरा नगर हवेली (–34), दमन दीव (–92) एवं लक्षद्वीप (–2) में लिंग अनुपात 2011 में कम हुआ हैं। जहाँ दमन दीव, दादरा नगर हवेली एवं जम्मु कश्मीर में लिंग अनुपात तेजी से क्रमशः 92, 34

एवं 9 प्वांईट गिरा हैं वही गुजरात बिहार एवं लक्षद्वीप में बहुत कम क्रमशः 2, 3 एवं 2 प्वाइंट गिरा है।

उल्लेखनीय है कि दमन दीव में 92 तथा दादरा नगर हवेली में 34 प्वाईंट लिंगानुपात का गिरना अत्यन्त चिन्तनीय है। भारत में औसत राष्ट्रीय स्तर से कम लिंगानुपात वाले कुल 17 राज्य एवं केन्द्रशासित प्रदेश है, जबकि 18 राज्य एवं केन्द्रशासित प्रदेश राष्ट्रीय औसत के ऊपर है। जिसे तालिका क्र. 5 द्वारा दर्शाया गया है :–

तालिका क्र. 5

राष्ट्रीय औसत के नीचे एवं उपर के राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों का लिंगानुपात के आधार पर वितरण (2001–2011)

लिंग अनुपात	राज्य एवं केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या (2001)	कुल जनसंख्या से जनसंख्या का % (2001)	राज्य एवं केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या (2011)	कुल जनसंख्या से जनसंख्या का % (2011)
राष्ट्रीय औसत से नीचे	17	57.19	17	58.31
राष्ट्रीय औसत से उपर	18	42.81	18	41.69

स्त्रोत : – विश्लेषण से प्राप्त।

तालिका क्र. 5 से स्पष्ट है कि 2001 एवं 2011 में राष्ट्रीय औसत से नीचे के राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या तथा राष्ट्रीय औसत से उपर की संख्या में कोई बदलाव नहीं है हालांकि जनसंख्या के प्रतिशत में जरूर थोड़ा बदलाव आया है। राष्ट्रीय औसत से नीचे की जनसंख्या का प्रतिशत 2001 की तुलना में 2011 में थोड़ा बड़ा है 1.12 प्रतिशत बड़ा जबकि राष्ट्रीय औसत से उपर की जनसंख्या का प्रतिशत 1.12 प्रतिशत घटा हैं जो यह स्पष्ट करता है कि लिंगानुपात में राष्ट्रीय औसत जरूर 7 प्वाइंट बड़ा है लेकिन राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या में कोई बदलाव नही आया हैं। राष्ट्रीय औसत से नीचे की जनसंख्या के प्रतिशत में वृद्धि तथा राष्ट्रीय औसत से ऊपर की जनसंख्या के प्रतिशत

में कमी भी चिंता विषय है। भारत के राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों का ''लिंगानुपात विस्तार के आधार पर वितरण'' तालिका क्र. 6 में दर्शाया गया है :–

तालिका क्र. 6

भारत के राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों का लिंगानुपात रेंज के आधार पर वितरण

लिंगानुपात रेंज	राज्य केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या (2001)	कुल जनसंख्या से जनसंख्या का प्रतिशत (2001)	राज्य केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या (2011)	कुल जनसंख्या से जनसंख्या का प्रतिशत (2011)
880 – Below	8	5.98	6	3.65
881 – 915	4	17.44	4	19.87
916 – 950	11	47.18	10	45.08
951 – 985	8	18.12	8	13.01
986 – Above	4	11.28	7	18.4

स्त्रोत : – विश्लेषण से प्राप्त।

तालिका क्र. 6 से महत्वपूर्ण तथ्य सामने आता है कि 2001 की तुलना में 2011 में 916 से कम लिंगानुपात वाले राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या 12 से घटकर 10 हो गई जबकि इनकी कुल जनसंख्यों में प्रतिशत हिस्सा स्थित लगभग 23 प्रतिशत रहा। वही 986 तथा इससे अधिक लिंग अनुपात वाले राज्यों केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या 2001 की तुलना में 2011 में 4 से बढ़कर 7 हो गई तथा जनसंख्या प्रतिशत हिस्सा भी 11.28 प्रतिशत से बढ़कर 18.4 प्रतिशत हो गया यह स्थिति लिंग संतुलन में सुधार को बताती है किन्तु जब हम 916 से 985 के बीच लिंगानुपात वाले राज्यों/केन्द्राशासित प्रदेशों पर दृष्टि डालते है तो यह संख्या लगभग समान रही है जबकि जनसंख्या के प्रतिशत हिस्से में कमी आई है जो 65 प्रतिशत से घटकर 58 प्रतिशत रह गया। जो यह स्पष्ट करता है कि भारत के विभिन्न राज्यों में लिंग अनुपात एवं जनसंख्या अनुपात में व्यापक विविधताएँ है।

भारत में बालिका लिंग अनुपात की स्थिति :–

भारत में 0–6 वर्ष आयु के बालिका लिंग अनुपात में लगातार कमी आई है। यह 1961 के 976 से लगातार कम होकर 2011 में 914 रह गया जो चिन्ताजनक हैं। वही भारत के समग्र लिंग अनुपात में उक्त अवधि में उतार–चढ़ाव आते रहे है। किन्तु उल्लेखनीय है कि 1961 से 1991 तक बालिका लिंग अनुपात भारत के समग्र लिंग अनुपात से अधिक रहा किन्तु 2001 एवं 2011 में यह लिंग अनुपात घटा है 2001 में भारत का समग्र लिंग अनुपात 933 था जबकि बालिका लिंग अनुपात 927 रहा वही 2011 में भारत का समग्र लिंग अनुपात प्वाईंट 7 बढ़कर 940 हो गया जबकि बालिका लिंग अनुपात 927 से घटकर 914 रह गया अर्थात 13 प्वांइट की कमी हुई। जो यह स्पष्ट करता है कि वैज्ञानिक आवष्किार एवं तकनीकी के फलस्वरूप भ्रूण परीक्षण एवं भ्रूण हत्या में प्राकृतिक संतुलन को विकृत किया हैं। साथ ही समाज में पुत्र को महत्व, कन्या शिशु हत्या, बालिका कुपोषण, इत्यादि ने इस समस्या को और गहराया है। तालिका क्र. 7 में भारत में बालिका लिंग अनुपात को दर्शाया गया हैः–

तालिका क्र. 7

भारत में (0–6 वर्ष के आयु समूह में) बालिका लिंग अनुपात की स्थिति

वर्ष	0 से 6 वर्ष की आयु समूह में लिंगानुपात	समग्र औसत लिंगानुपात	औसत लिंगानुपात से तुलना
1961	976	941	.976 > .941
1971	964	930	.964 > .930
1981	962	934	.962 > .934
1991	945	927	.945 > .927
2001	927	933	.927 < .933
2011	914	940	.914 < .940

स्त्रोत :– Gender of Composition, Govt. of India, ministry of Home affairs. Statement 16, P.90

विभिन्न राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में 2011 में बालिका लिंग अनुपात में उच्चतम तीन राज्य मिजोरम (971) मेघालय (970), तथा छत्तीसगढ़ (964) तथा उच्चतम तीन केन्द्रशासित प्रदेश अण्डमान निकोबार द्वीप समूह (966), पांडिचेरी (965) एवं दादरा नगर हवेली (924) रहे है। वही निम्नतम बालिका लिंगानुपात वाले राज्य हरियाणा (830), पंजाब (846), और जम्मुकश्मीर (859) रहे तथा केन्द्रशासित प्रदेशों में दिल्ली (866), चंडीगढ़ (867) तथा लक्षद्वीप (908) रहे है। यह स्थिति स्पष्ट करती हैं कि उत्तर भारत के राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में बालिका लिंग अनुपात कम है। जो वहाँ व्याप्त कुरीतियों का परिणाम हैं। भारत के राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों की स्थिति को देखे तो 2001 की तुलना में 2011 में बालिका लिंग अनुपात में कमी वाले राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या में वृद्धि हुई है जबकि उच्च लिंग अनुपात वाले राज्यों/ केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या में कमी आई है जिसें तालिका क्र. 8 में दर्शाया गया है :–

तालिका क्र. 8

भारत के राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशो का बालिका लिंगानुपात रेंज के अनुसार वितरण।

लिंग अनुपात	राज्यो/केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या (2001)	कुल जनसंख्या से जनसंख्या का प्रतिशत (2001)	राज्यों/केन्द्र शासित प्रदेशों की संख्या (2011)	कुल जनसंख्या से जनसंख्या का प्रतिशत (2011)
880 & below	4	5.27	5	6.51
881-915	5	20.76	9	46.13
916-950	8	45.95	12	39.2
951-985	18	28.02	9	8.16
986& Above	0	0	0	0
Total	**35**	**100.00**	**35**	**100.00**

स्त्रोत : – विश्लेषण से प्राप्त।

तालिका क्र. 8 से स्पष्ट है कि पिछले दशक में बालिका लिंग अनुपात में कमी आई हैं। 915 से कम बालिका लिंगानुपात वाले राज्यो एवं केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या 2001 में 9 थी जो 2011 में बढ़कर 14 हो गई तथा जनसंख्या का प्रतिशत भी 26 से बढ़कर 53 हो गया जबकि 916 से 950 के बीच लिंग अनुपात वाले राज्यो/केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या 2001 की तुलना में 2011 में 8 से बढ़कर 12 हो गई किन्तु जनसंख्या का प्रतिशत 45.95 से घटकर 39.2 हो गया उल्लेखनीय है कि उच्च बालिका लिंग अनुपात 951 से 985 के बीच के राज्यो/केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या 2001 के 18 से घटकर 2011 में 9 रह गई अर्थात पिछले दशक की तुलना में आधी रह गई है तथा जनसंख्या का प्रतिशत भी 28.02 से घटकर 8.16 प्रतिशत रह गया। कुल मिलाकर एक और निम्न बालिका लिंगानुपात वाले राज्यों की संख्या और उनकी जनसंख्या के प्रतिशत में वृद्धि तथा दूसरी ओर उच्च बालिका लिंगानुपात वाले राज्यों की संख्या एवं उनके जनसंख्या प्रतिशत में भारी कमी बालिका लिंगानुपात की दयनीय एवं अत्यंत चिंताजनक स्थिति को व्यक्त करती है।

भारत में प्रतिकूल लिंगानुपात के कारण :

भारत में 1901 से 1991 तक लगातार लिंग अनुपात का गिरना, 2001 एवं 2011 में लिंग अनुपात का कुछ प्वाईंट बढ़ना एवं उत्तर भारत में लिंगानुपात का तुलनात्मक रूप से बहुत प्रतिकूल होना अत्यंत चिंताजनक एवं विचारणीय है। एन.सी.ई.आर. के एक अध्ययन के अनुसार प्रतिवर्ष होने वाली मोतों में लड़कियों की संख्या ज्यादा होती है। उनमें भी छः में से एक महिला की मृत्यु लिंग भेद एवं घरेलू उपेक्षा के कारण होती है। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष 10 लाख से अधिक भ्रूण हत्याएँ हो रही है। प्रति 30 मिनट में एक भ्रूण हत्या, हर डेढ़ घंटे में एक दहेज हत्या, इसकी भयावहता को दर्शाती है। देश में प्रतिवर्ष 1 करोड़ 20 लाख जन्म लेने वाली बच्चियों में 25 प्रतिशत अर्थात 30 लाख अपना पन्द्रहवाँ जन्मदिन मनाने को जिंदा नहीं रह पाती। यही कारण है कि देश में लिंगानुपात .940<1 है।

वास्तव में सामाजिक एवं आर्थिक पिछड़ापन, पुत्रों के लिए विशेष लगाव, पुत्र को भविष्य की आय का स्त्रोत, वृद्धावस्था का सहारा, धार्मिक अनुष्ठान करने वाला समझना, बेटियों को भार समझना, बेटी को जन्म होते ही मार डालना, बालिका मृत्यु दर अधिक होना, कन्या भ्रूण हत्या, दहेज हत्या, अत्याचार के परिणामस्वरूप आत्महत्या, हिंसा, घरेलू

हिंसा, लड़की को दोयम दर्जे का समझना, शिक्षा का निम्न स्तर, गरीबी, कुपोषण आदि अनेक कारण है जो लिंगानुपात प्रतिकूलता के लिए उत्तरदायी है। **जीन ड्रेज** और **अमर्त्यसेन** ने कहा भी है कि इस अधिक मृत्यु दर का कारण ''लड़कियों के स्वास्थ्य, आहार व अन्य संबंधित आवश्यकताओं की उपेक्षा है, खासतौर पर उत्तरी भारत में।''

निष्कर्ष एवं सुझाव –

दुनिया की आधी आबादी स्त्रियाँ जो सृष्टि की जनक, सामाजिक व्यवस्था का आधार, संतुलित समाज व देश की प्रतीक एवं प्रगति के लिए अनिवार्य है, भूतकाल से कई रूढ़ियों एवं अत्याचारों की शिकार बनती आ रही है। नवजात शिशु हत्या, कन्या भ्रूण हत्या, कुपोषण इत्यादि के चलते भारत में लगातार घटते लिंग अनुपात, विश्व के विकसित राष्ट्रों की तुलना में लिंग अनुपात दृष्टि से भारत का पिछड़ा होना, भारत के विभिन्न राज्यों में लिंगानुपात में असमानता, बालिका लिंग अनुपात का तेजी से गिरना, उत्तर भारत में लिंगानुपात का अत्यंत कम होना इत्यादि महिला प्रगति, महिला सशक्तिकरण, नारी स्वतंत्रता एवं समानता के युग में एक अत्यंत चिंतनीय पहलू है। इक्कसवीं सदी में भारत चांद पर कदम रखने का सपना तो साकार कर सकता है लेकिन दशक के बाद ढाई करोड़ युवाओं को जीवन संगिनी के लिए तरसना पड़ सकता है। वास्तव में इतनी गहन गम्भीर, भयावह समस्या जनसंख्याविदो और समाजशास्त्रियों के लिए ही नहीं वरन सम्पूर्ण समाज के लिए चिंतनीय है। वास्तव में लिंग असंतुलन समाज में अराजकता, अनैतिकता एवं असंतुलन को पैदा करेगा, जिससे हमारी सामाजिक व्यवस्था ही खतरे में पड़ जायेगी। उत्तर भारत के हरियाणा, पंजाब, चंड़ीगढ़, दिल्ली इत्यादि तथा दमनदीव, लक्षद्वीप, दादरा नागर हवेली इत्यादि में स्त्रियों की संख्या पुरूषों की तुलना में 150 से 400 तक कम होना अत्यंत चिंताजनक है। जरूरी है भ्रूण हत्या कानून को सख्ती से लागू करने, सरकारी प्रयासों को तेज करने, समाज सुधारकों, धर्माचार्यों, नेताओं, पत्रकारों, मिडिया आदि को विभिन्न जनआंदोलनों एवं अभियानों से जनजागरूकता लाने, सामाजिक मान्यता में बदलाव लाने, सेमिनार संगोष्ठी एवं विज्ञापनों द्वारा हर स्तर पर प्रयास करने, वैज्ञानिक तकनीक के जघन्य दुरूपयोग को रोकने, कन्या हत्या, दहेज हत्या, हिंसा इत्यादि पर रोक लगाने तथा शिक्षा, विकास एवं आय का स्तर बढ़ाने की आवश्यकता है तभी न केवल जनसंख्या के लिंग असंतुलन में कमी आयेगी बल्कि एक व्यवस्थित समाज में आदर्श के ऊँचे प्रतिमान भी परिलक्षित होंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

- मिश्र एवं पूरी – भारतीय अर्थव्यवस्था, 2012, पृष्ठ क्र. 133, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई।
- टोंग्या एवं पाटनी – जनांकिकी एवं जनसंख्या अध्ययन, पृष्ठ क्र. 60–68, संजीव प्रकाशन, मेरठ।
- विसारिया प्रवीण – Demographic Aspect of Development: The Indian Experience in Uma Kapila (ed) Indian Economy since Independence (New Delhi-2006), P. 193-4.
- World Bank, World Development Indicator 2012, (Washington)
- World Population prospect-2011.
- Provisional Population, Govt. of India, Ministry of Home affairs, P. 81, 88, 90, 95, 96.
- Govt. of India Economic Survey 2011-12 (New Delhi)
- प्रवेश आर्या–भ्रूण हत्या परमात्मा से विद्रोह करने के समान, दैनिक जागरण 5 मार्च 2013.
- कन्या भ्रूण हत्या पर सुप्रीम कोर्ट सख्त, नवभारत टाईम्स, 4 मार्च 2013.
- आधी दुनिया के हक में म.प्र. सरकार, नईदुनिया, 18 अक्टूबर 2012.
- बेटी बचाओ अभियान में बदली तस्वीर, नईदुनिया, 18 अक्टूबर 2012.
- अभी तक अधूरा है समानता का सपना, नईदुनिया, 8 मार्च 2013.
- www.censusindia.govt.in
- www.unfpa.org.in
- en.wikipedia.org

रेडियो का वर्तमान परिदृश्य

डॉ. मनीषा सिंह मरकाम
सहायक प्राध्यापक – हिन्दी
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

हमारी देवभाषा के बाद जो रूप भाषा का उभरकर सामने आया वह हिन्दी का है। हिन्दी भाषा सदैव से ही विकसित और विवेचनशील रही है। हम चाहे कितनी भी पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति को ग्रहण करते चले जाऐं हम सपने हिन्दी में ही देखेंगे अर्थात् हमारा अन्तर्मन हिन्दी के ही साथ रहता है। इसलिए हमारी राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी है। भारतीय संविधान द्वारा खड़ी बोली हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किये जाने के साथ ही हिन्दी का परम्परागत अर्थ, स्वरूप तथा व्यवहार क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया है। हिन्दी भाषा शास्त्रीय अथवा व्यकरणीय समस्या, समीक्षा परक विधाओं तक ही सीमित न रहकर प्रशासन विधा, न्याय, शिक्षा, पत्रकारिता एवं मुख्य रूप से संचार के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बना चुकी है।

आधुनिक युग में जनसंचार के अनेक सशक्त माध्यमों में से एक रेडियो है। टेलीफोन के बाद रेडियो (आकाशवाणी) एक ऐसा अविष्कार हुआ जिसने संचार की प्रक्रिया को दूरस्थ सीानों तक संभव बना कर प्रत्येक मनुष्य को आपस में जोड़ा यह बात हर तरह से सत्य है कि अन्य इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों ने सूचना–विस्फोट किया है परन्तु आकाशवाणी ने हिन्दी भाषा के ऐसे–ऐसे रोचक, सम–सामयिक कार्यक्रम की प्रस्तुती करने में सक्षम है कि हम दूरदर्शन बंद करके रेडियो को देर रात तक अपने कान के नजदीक रखते हैं।

रेडियो वास्तव में भारत में एक ऐसा सशक्त माध्यम है जो समाज के शिक्षित औश्र निरक्षर सभी के लिए उपयोगी है। जहाँ दूरदर्शन नहीं पहुँच सकता वहाँ आकाशवाणी लोगों को शिक्षित और सूचित करने में ही नहीं अपितु स्वस्थ मनोरंजन उपलब्ध करवाने में सर्वोपरि स्थान निभाता है। दूरदर्शन और इंटरनेट इन सभी संचार माध्यमों की अपनी सीमाएँ हैं। सबसे बड़ी सीमा यह कि वह निरक्षरों की विशाल जनसंख्या के लिए बेहद अनुपयोगी है, दूसरी यह कि वह सभी वर्ग के लिए सर्वसुलभ नहीं है। तीसरी सीमा प्रिंट

मीडिया के लिए यह है कि पाठकों तक पहुँचने में इसे लम्बा समय (6–7 घंटे) लग जाता है। इसलिए आकाशवाणी हर वर्ग तक तीव्रता से पहुँच जाता है।

जवरीमल्ल पारख ने लिखा है – ''रेडियो निरक्षरों के लिए भी एक वरदान है जिसके द्वारा वे सिर्फ सुनकर अधिक से अधिक सूचना, ज्ञान और मनोरंजन हासिल कर लेते हैं। रेडियो और ट्रांजिस्टर की कीमत भी बहुत अधिक नहीं होती इस कारण वह सामान्य जनता के लिए भी कमोबेश सुलभ है। यही कारण है कि टी.वी. के व्यापक प्रसार के बावजूद तीसरी दुनिया के देशों में रेडियो का अपना महत्व आज भी कायम है।'' (जनसंचार माध्यमों का सामाजिक चरित्र, 1997, पृ. 29)

रेडियो पर हिन्दी भाषा के प्रसारण के लिए लगभग सभी विधाएँ संयोजित की जाती हैं। जैसे – समाचार, फीचर वाती, साक्षात्कार, डॉक्यूमेंट्री, पत्रिका–विचार संगोष्ठी, आँखों देखा हाल, नाटक, कहानी, काव्यपाठ, कवि सम्मेलन, विशेष प्रसारण, न्यूज रील, रेडियो रिपोर्ट, बच्चों का कार्य{म, खेल जगत, पर्व और जयंतियाँ इसके अतिरिक्त संगीत कार्य{मों का प्रसारण, संसद और विधान मण्डलों की कार्यवाही की दैनिक एवं साप्ताहिक समीक्षा का प्रसारण विशेष रूप से क्रिकेट की कॉमेन्ट्री यह सारे प्रसारण हिन्दी भाषा में किए जाते हैं। रेडियो पर हिन्दी सुनना मन को अत्यंत भावुक कर देता है।

वर्तमान में भी भारत गाँवों का देश है। इसमें काफी संख्या में निरक्षर और गरीब लोग रहते हैं, पर वे रूचि रखते हैं कि देश की स्थितियों और परिस्थितियों को वे जानें। आज ग्रामों में वृद्ध हो या युवा।

हिन्दी भाषा और रेडियो लोक सम्पर्क का महत्वपूर्ण घटक है। हिन्दी भाषा जनसामान्य के लिए शिक्षक तथा उत्प्रेरक है। साथ ही शासकीय नीतियों और कार्य{मों का महानिरीक्षक भी है। जिसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर है, वह भी आकाशवाणी के माध्यम से देश की हलचलों से परिचित होता है। ''आकाशवाणी आज जो करोड़ों रूपये खर्च करती है, उसके लिए सबसे पहले 'रायटर' की सेवाएँ ली गई थी। यह तय हुआ था कि 'रायटर' को 750/– प्रतिमाह दिया जायेगा। बाद में जब कलकत्ता केन्द्र से समाचार प्रसारण शुरू हुआ तक 'रायटर' की फिस 500/– मासिक रखी गई। यह 1927–30 की बात है। आज समाचार प्राप्त करने के लिए विभिन्न एजेंसियों को एक करोड़ रूपये से भी अधिक प्रतिवर्ष दिया जाता है। यह वह उससे अतिरिक्त है जो आकाशवाणी अपने

संवाददाताओं, अंशकालीन संवाददाताओं और विदेश स्थित संवाददाताओं पर खर्च करती है।'' (रेडियो और दूरदर्शन पत्रकारिता, डॉ. हरिमोहन, पृ. 4, 85, 86)

मुख्यतया ठोस रूप में हिन्दी भाषा का आकाशवाणी में हस्तक्षेप होने से सरकारी विभागों द्वारा अपनी नीतियों का प्रसारण और उससे जुड़ी जन सामान्य की हित–सम्भावनाओं का अनुकूल जनमत तैयार होता है। आकाशवाणी सरकारी नीतियों के शुक्ल पक्ष को भी उद्‌घाटित करता है क्योंकि आकाशवाणी की भाषा मुख्य रूप से हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषा होती है। इसलिए यह जनसमस्याओं पर प्रकाश डालते हुए उसके समाधान की दिशा भी प्रशस्त करती है। और इन संदर्भों में हो रहे कार्यों की जानकारी देता है। आकाशवाणी में कार्यक्रमों के प्रसारण के लिए भाषा सरल, स्पष्ट एकार्थी, कथ्य में सीधापन होना चाहिए यह सारे गुण हिन्दी भाषा में विद्यमान होते हैं। इसलिए यह संचार माध्यम के लिए एकदम बलवती भाषा सिद्ध हो रही है। जो 'निरक्षर' एवं 'साक्षर' दोनों तरह के श्रोता–दर्शकों को अपने ढंग से ग्रहण करती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. 2004, डॉ. हरिमोहन – रेडियो एवं दूरदर्शन, नई दिल्ली, तक्षशिला।
2. 2004, प्रो. हरिमोहन – सूचना क्रांति एंव विश्व भाषा हिन्दी, नई दिल्ली, तक्षशिला।
3. 2004, डॉ. हरिमोहन – रेडियो एवं दूरदर्शन पत्रकारिता, नई दिल्ली, तक्षशिला।
4. 2002, डॉ. जे.वी. विलानिलम – भारत में संचार और जनसंचार, भोपाल, हिन्दी ग्रंथ अकादमी।
5. 2006, डॉ. कैलाशचंद्र भाटिया – कामकाजी हिन्दी, नई दिल्ली, तक्षशिला।
6. 1998, डॉ. त्रिलोचन पाण्डे – भाषा विज्ञान के सिद्धांत, नई दिल्ली, तक्षशिला।
7. 2002, डॉ. हरिमोहन – प्रशासनिक हिन्दी, नई दिल्ली, तक्षशिला।
8. 2005, नीलम मान – हिन्दी का सही प्रयोग, नई दिल्ली, तक्षशिला।
9. 2004, एन.सी. पंत – संपादन कला, नई दिल्ली, तक्षशिला।
10. 2005, एन.सी. पंत – अनुवाद का मानक स्वरूप, नई दिल्ली, तक्षशिला।
11. 2000, डॉ. विनोद गोदरे – हिन्दी पत्रकारिता स्वरूप एवं संदर्भ, दिल्ली, वाणी।
12. 2005, एन.सी. पंत – मीडिया लेखन के सिद्धांत, नई दिल्ली, तक्षशिला।

स्वास्थ्य एवं योग

डॉ. (श्रीमती) सुदीप छाबड़ा
सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

जीवन की सार्थकता स्वस्थ रहने में ही है। एक अस्वस्थ व्यक्ति अपने लिए एवं अपने परिवार के लिए एक बोझ बन जाता है। आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता, जिसका विपरीत प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़े, लेकिन इसके उपरांत भी उसके स्वास्थ्य के ग्राफ को स्थिर रखना एक कठिन समस्या बनती जा रही है। योग साधारण शारीरिक व्यायाम नहीं है, वरन् एक नवीन जीवन पद्धति को स्थापित करने का प्रभावकारी साधन है, एक ऐसी जीवन शैली है, जिसमें जीवन की बाह्य एवं आंतरिक वास्तविकताओं का सुंदर संयोग होता है। निश्चय ही यह जीवन शैली एक ऐसी अनुभूति है, जिसे सैद्धांतिक रुप से केवल समझा नहीं जा सकता है बल्कि अभ्यास और अनुभूति के आधार पर जीवन जिया जाता है। वास्तव में योग सम्यक् जीवन का विज्ञान है, अतः इसका समावेश हमारे दैनिक जीवन में एक नियत–चर्या के रुप में होना चाहिए। यह हमारे व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक आदि लगभग सभी पहलुओं को प्रभावित करता है।

योग शब्द का अर्थ होता है एकत्व और यह संस्कृत धातु युज से बना है, जिसका अर्थ होता है जोड़ना। व्यवहारिक स्तर पर योग शरीर, मन और भावनाओं में संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने का एक साधन है। स्वामी शिवानंद जी योग की व्याख्या करते हुए कहते है कि ''विचार, वाणी और कर्म के बीच सामंजस्य का नाम योग है।''

योगाभ्यास से भावनात्मक, मानसिक और शारीरिक स्तरों के आपसी संबंधों के प्रति सजगता का विकास होता है। साथ ही यह सजगता भी आती है कि इनमें से किसी एक में असंतुलन उत्पन्न होने पर अन्य भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते और यह सजगता अस्तित्व को सूक्ष्म रुप से समझने में सहायता करती है।

योग विज्ञान का प्रभाव व्यक्तित्व के सबसे बाहरी पक्ष–शरीर से प्रारंभ होता है, जो अधिकतर व्यक्तियों के लिए एक व्यावहारिक और आम–प्रचलित आरंभ बिंदु है। इस स्तर

पर असंतुलन का अनुभव होने से अंगों, पेशियों और तंत्रिकाओं के कार्यकलापों में सामंजस्य नहीं रह पाता है और वे एक–दूसरे के प्रतिकूल कार्य करने लग जाते है। उदाहरण के लिए अन्तः स्त्रावी प्रणाली के अनियमित होने से तंत्रिका तंत्र की कार्य कुशलता इतनी कम हो सकती है कि शरीर रोगग्रस्त हो सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि योग के द्वारा शरीर के विविध कार्यकलापों के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया जाता है, ताकि वे शरीर के हित में कार्य कर सकें अर्थात् स्थूल शरीर से प्रारंभ होकर योग मानसिक और भावनात्मक स्तर की ओर अग्रसर होता है। अनेक लोग दैनिक जीवन के दबावों और आपसी व्यवहारों से उत्पन्न भय और मानसिक रोगों से पीड़ित होते है। योग समस्त व्याधियों को निर्मूल तो नहीं कर सकता, परन्तु उनसे जूझने की शक्ति अवश्य प्रदान करता है।

योग की कई शाखा है – राज योग, हठ योग, ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग, मंत्र योग, कुण्डलिनी योग आदि। यदि आम बोलचाल की भाषा में कहना चाहें तो योग के अंतर्गत आसन, प्राणायाम, बंध, मुद्रा एवं षट्कर्म आदि को शामिल किया जाता है।

आसन

पतंजलि के योग सूत्र के अनुसार 'स्थिरं सुखं आसनम् अर्थात् वह स्थिति जो सुखद और स्थिर हो, वह आसन है। एक स्थिति में लंबे समय तक सुखपूर्वक बैठने की क्षमता विकसित करने के लिए आसनों का अभ्यास किया जाता है, जो ध्यान के लिए एक आवश्यक योग्यता है। कुछ विशिष्ट आसनों के द्वारा नाड़ियों में ऊर्जा के प्रवाह को निर्बाध बनाया जा सकता है और चक्रों को जाग्रत किया जा सकता है। इनसे शारीरिक नियंत्रण विकसित कर लेने के पश्चात् मन और ऊर्जा पर नियंत्रण प्राप्त करने की क्षमता भी प्राप्त कर ली जाती है।

प्राचीन ग्रंथों के अनुसार प्रारंभ में 84,00,000 आसन थे, जो मनुष्य जाति की 84,00,000 योनियों के प्रतीक हैं। मोक्ष प्राप्ति के पूर्व हर जीव को इस सभी योनियों से होकर गुजरना पड़ता है। ये आसन प्राणी की प्रारंभिक अवस्था से मोक्ष की अवस्था तक के प्रगतिशील विकास को प्रकट करते है। लेकिन वर्तमान समय के योगियो ने इन आसनों को रुपान्तरित किया औश्र इनकी संख्या घटाते–घटाते कुछ सौ के अंदर कर दी गई है। इनके अभ्यास द्वारा कर्म की प्रक्रिया को तीव्र कर एक ही जीवन में कई जन्मों की प्रगति को प्राप्त किया जा सकता है।

योगासन और शरीर मन का संबंध

मन और शरीर दो अलग तत्व नहीं है, हालांकि हम सामान्य रुप से ऐसा व्यवहार करते और सोचते हैं, मानो ये अलग–अलग हों। मन का स्थूल रुप शरीर हैं और शरीर का सूक्ष्म रुप मन हैं। आसन का अभ्यास इन दोनों के बीच समन्वय तथा सामंजस्य स्थापित करता है। शरीर और मन दोनों के भीतर तनाव या ग्रंथियाँ उत्पन्न होती हैं आसनों का उद्देश्य इन ग्रंथियों को खोलना है। शारीरिक स्तर पर कार्य कर आसन मानसिक तनावों को दूर करता है, यानी शरीर के द्वारा मन में प्रवेश करता है। आसनों के नियमित अभ्यास से शरीर पूर्ण स्वस्थ बना रहता हैं और अस्वस्थ शरीर मे भी स्वस्थता के लक्षण प्रकट होने लग जाते है। आसनों के अभ्यास से प्रसुप्त शक्ति जाग्रत हो जाती हैं जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिक से अधिक आत्मविश्वास की अनुभूति प्रदान करती है।

योगासनों का वर्गीकरण :

आसनों को तीन समूहों में विभाजित किया जाता है – प्रारंभिक, मध्यम और उच्च आसन समूह।

अ. प्रारंभिक समूह के आसन के अंतर्गत उन आसन विधियों को रखा जाता हैं, जो शरीर और मन को उच्च आसनों और ध्यान के आसनों के लिए तैयार करते हैं। इस समूह में पवन मुक्तासन, नेत्रों के व्यायाम, शिथिलीकरण, ध्यानाभास के पूर्व व समय के आसन, सूर्य नमस्कार, वज्रासन समूह के आसन, चंद्र नमस्कार आदि मुख्य रुप से रखे जाते है।

ब. मध्यम आसन समूह में वे आसन रखे गए हैं, जो अपेक्षाकृत कठिन होते है। इन आसनों के लिए अधिक स्थिरता, एकाग्रता और श्वास के साथ समन्वय की आवश्यकता होती है। इस समूह में पद्मासन में किए जाने वाले आसन, आगे और पीछे की ओर झुकने वाले आसन, मेरुदण्ड मोड़कर किए जाने वाले आसन, सिर के बल किए जाने वाले आसन और संतुलन के आसन शामिल है।

स. उच्च समूह के आसन उन लोगों के लिए हैं, जिनका अपनी पेशियों और तंत्रिका तंत्र पर भरपूर नियंत्रण है और जिन्होंने मध्यम समूह के आसनों को आसानी से किया है।

प्राणायाम

सामान्य रुप से प्राणायाम की परिभाषा श्वास पर नियंत्रण के रुप में दी जाती हैं, परन्तु वास्तव में यह प्राणायाम के संपूर्ण अर्थ को प्रकट नहीं करती है। प्राणायाम दो शब्दों

प्राण और आयाम से मिलकर बना है। प्राण का अर्थ होता है 'जीवन शक्ति'। यह वह शक्ति हैं जो समस्त सजीव और निर्जीव पदार्थों में विद्यमान है। प्राणायाम को मात्र फेफड़ों में अतिरिक्त ऑक्सीजन की आपूर्ति के लिए किया जाने वाला श्वसन व्यायाम नहीं समझना चाहिए। प्राणायाम में श्वसन का उपयोग प्राणमय कोश की नाड़ियों में प्राण प्रवाह को प्रवाहित करने के लिए किया किया जाता है। प्राणायाम श्वसन क्रिया के माध्यम से मानव संरचना के स्थूल व सूक्ष्म स्तरों में निहित सभी प्रकार के प्राणों को संचालित व नियंत्रित करता है। इसलिए इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव मन व शरीर पर पड़ता है।

प्राणायाम के चार पक्ष :

प्राणायामों के अभ्यासों में श्वसन के चार महत्वपूर्ण पक्षों को उपयोग में लाया जाता है। वे इस प्रकार हैं –

अ. पूरक या श्वास अंदर लेना

ब. रेचक या श्वास बाहर छोड़ना

स. अंतर्कुम्भक या अंदर श्वास रोकना

द. बहिर्कुम्भक या बाहर श्वास रोकना

कुछ प्रमुख प्रभावी प्राणायाम के अंतर्गत नाड़ी शोधन प्राणायाम, शीतली प्राणायाम, भ्रामरी प्राणायाम, उज्जायी प्राणायाम, भस्त्रिका प्राणायाम, कपालभाति प्राणायाम आदि आते है।

बन्ध

प्राचीन परम्परा के अनुसार बंधों को मुद्राओं का अंग माना जाता था और इसकी शिक्षा गुरु मुख से प्राप्त होती थी, लेकिन वर्तमान समय में बंधों की कार्यविधि को स्वतंत्र अभ्यास प्रणाली के रुप में मान्यता दे दी गई है। संस्कृत शब्द बंध का शाब्दिक अर्थ है बाँधना, कसना या जकड़ना। इससे स्पष्ट है कि बंध के अभ्यासों में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है, जिसका प्रभाव प्राण शरीर पर प्रकट होता है। बंधों का उद्देश्य प्राण–शक्ति को किसी विशेष अंग मे रोककर आध्यात्मिक जागरण के लिए उसे सुषुम्ना नाड़ी में पुनः प्रवाहित कराना होता है।

बंध चार प्रकार के होते हैं जालन्धर मूल, उड्डियान और महाबंध। चौथा बंध पहले तीन बंधों का संयोजन है। ये तीनों बंध सीधे तीन ग्रंथियों – ब्रह्म, विष्णु एवं रूद्र ग्रंथि पर प्रभाव डालते है।

मुद्रा

संस्कृत शब्द मुद्रा का अर्थ होता है, 'भाव भंगिमा'। ये मुद्राएं भावनात्मक, भक्तिपूर्ण और सौन्दर्य बोधक हो सकती है। मुद्राएं सूक्ष्म शारीरिक गतियों का संयोजन होती हैं जो मनोवृत्ति, मनोदशा और सहज बोध में परिवर्तन लाती हैं और सजगता एवं एकाग्रता को गहरा बनाती है। किसी मुद्रा में आसन, प्राणायाम के अभ्यासों के साथ संपूर्ण शरीर की सहभागिता हो सकती है और दूसरी ओर यह केवल हस्त मुद्रा भी हो सकती है। मुद्राओं के अभ्यास उच्च कोटि के होते हैं, जिनसे प्राणों, चक्रों एवं कुण्डलिनी का जागरण होता हैं और उच्च साधकों को महान सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

योग मुद्राओं को मुख्य रुप से पाँच समूहों में बाँटा जाता है –

अ. हस्त मुद्राएँ – ज्ञान, भैरव, हृदय, योनि मुद्रा आदि।

ब. मन मुद्राएँ – शाम्भवी, भूचरी, आकाशी, खेचरी आदि।

स. काया मुद्राएँ – प्राण, पाशिनी, माण्डुकी, तड़ागी मुद्रा आदि।

द. बंध मुद्राएँ – महा, महा भेद, महा वेध मुद्रा आदि।

इ. आधार मुद्राएँ – अश्विनी मुद्रा, सहजोली मुद्रा आदि।

षट्कर्म

षट्कर्म एक सुव्यवस्थित एवं यथार्थ विज्ञान है। इसमें शुद्धिकरण के छः अभ्यास समूह आते हैं –

अ. नेति

ब. धोति

स. नौलि

द. बस्ति

इ. कपालभाति

फ. त्राटक

वास्तव में इन षट्कर्मों का उद्देश्य है – दो मुख्य प्राण प्रवाहों, इड़ा एवं पिंगला के बीच सामंजस्य स्थापित करना एवं इनके द्वारा शारीरिक एवं मानसिक शुद्धिकरण एवं संतुलन प्राप्त करना।

उपर्युक्त संपूर्ण विवरण से स्पष्ट हैं कि यदि हम अपने जीवन को, व्यक्तित्व को, शरीर को संतुलित रखने की चाहत रखते हैं तो हमें इनमें से स्वयं के लिए उपयुक्त

योगाभ्यास का चयन कर लेना चाहिए। दिन–प्रतिदिन योग की बढ़ती लोकप्रियता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि योग तनावरहित जीवन जीने की कुंजी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

- दलवी भागवत, मानसिक तनाव और योग संस्कार 2013 पृ.सं. 141–143
- दीक्षित डॉ. सुधीर, योग से यौवन तक, 2011 पृ. सं. 17
- मिश्र पं. रामेश्वर, योग द्वारा सुखी जीवन 2007, 34
- पांडे उमेश, कैसे रहें स्वस्थ, 2014 पृ.सं. 197
- मुनि सुरेन्द्र, योग, स्वस्थ शरीर प्रसन्न आत्मा 2009 पृ.सं. 18–21
- मुनि किशनलाल, योगासन एवं स्वास्थ्य, 2008 पृ.सं. 12, 13

आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्यिक और आध्यात्मिक अवदान

डॉ. संगीता मेहता
महाराजा भोज
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
धार

विद्वन्मनीषि अपने परिचय की अपेक्षा नहीं रखते है। उसकी कृति ही उनका परिचय होती है। इसलिये निःस्पृह ऋषियों में अपने परिचय को छोड़कर सब कुछ दिया है। आचार्य प्रवर कुन्द कुन्द इन्हीं में एक हैं। जन कल्याण की कल्याणपूर्ण भावना से आप्लावित आचार्य कुन्द कुन्द जन–जन को कल्याण का सन्देश देना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने जनभाषा प्राकृत को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और ज्ञान की अक्षुण्ण धारा प्रवाहित की तथा जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रदत्त अवदानों के कारण ही तीर्थकर महावीर तथा ज्ञान ऋषि गौतमगणधर के बाद आचार्य कुन्द कुन्द मंगलरूप में समादृत हैं। यथा–

मंगलं भगवदो वीरो, मंगलं गोदमो गणी।
मंगलं कोण्डकुन्दाइ जेण्ह धम्मोत्थु मंगलम्।।

आचार्य कुन्द कुन्द का ''समयसार'' सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रंथ हैं जिसमें समस्त पदार्थ तथा आत्मा का सार वर्णित है। निश्चय नय तथा व्यवहार नय की विभिन्न दृष्टियों से इसमें आत्म तत्त्व का विवेचन हैं। ''प्रवचनसार'' में ज्ञान, ज्ञेय तथा चरित्र की विस्तृत व्याख्या हैं।'पंचास्तिकाय'में छः द्रव्यों का साधु जीवन के विभिन्न अंगों का,ध्यान, प्रत्याख्यान तथा तपस्या का आध्यात्मिक दृष्टि से वर्णन हैं। 'बारस–अणुवेक्खा'(द्वादशानुप्रेक्षा) में जगत की अनित्यता आदि बारह अनुप्रेक्षाएँ वर्णित हैं। अष्ट पाहुड' में दर्शन, सूत्र, चरित्र, बोध, भाव,मोक्ष,लिंग, और शील इन आठ शीर्षकों के पाहुड (प्राभृत) प्रकरण हैं। ''दसभक्ति में चौबीस तीर्थंकर, श्रुत चरित्र, पंचपरमेष्ठी, योगी तथा आचार्य आदि की स्तुतियाँ हैं।

दिगम्बर साहित्य के प्रणेताओं में आचार्य कुन्द कुन्द अग्रणी है जीवन के सांस्कृतिक, वैचारिक, नैतिक तथा भाषा शिल्प के क्षेत्र में उनका अवदान अविस्मरणीय हैं।

आचार्य कुन्द कुन्द आत्मोदय संस्कृति के संवाहक हैं। संस्कृति का अभिप्राय हैं ''सृजनशीलता''। मानव के आत्मिक जीवन की सर्जना और उसका सम्यक् उपयोग संस्कृति

है[1] आत्मा के विकास की सामर्थ्य मनुष्य में है। मनुष्य की इसी सामर्थ्य को जगाने का कार्य कुन्द कुन्द का साहित्य करता हैं।

आत्मोन्मुख श्रमण संस्कृति का आधार शुद्धभाव है। इस संस्कृति में गुणों की वंदना का विधान है। आचार्य कुन्द कुन्द ने आत्मा के गुणों की ही वन्दना कर उसे स्वयं में विकसित करने की प्रेरणा दी । मोक्ष हेतु मनुष्य भव को आत्म साधना में लगाने का उपदेश दिया । आत्मा को ही परमात्मा की संज्ञा दी । आत्मोत्थान के दो मार्ग श्रावक और श्रमण धर्म बताये।''चारित्तं खलु धम्मो'' अर्थात धर्म को चरित्र का पर्याय कहकर सदाचार पर बल दिया। सदाचार कलात्मक जीवन जीने की प्रेरणा देता हैं। सदाचार और समताभव में ही धर्म निहित है। श्रावक चर्या को सदाचार मय बनाने के लिये षडावश्यकों के साथ कई सूत्र भी दिये हैं।

श्रावक का आदर्श श्रमण होता है अतः उपदेशों और दृष्टान्तों के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रमण चर्या को आदर्श बनाने का प्रयास किया और आदर्श में उन्होनें कोई तथ्य स्वीकार नहीं किया। उनकी दृष्टि में पाप वृत्तियों में संलग्न साधु भी अन्ततः दुर्गति को ही प्राप्त होता है। अतः बाह्य परिवर्तन के साथ आन्तरिक परिवर्तन आवश्यक है। तप और संयम की साधना के कषाय क्रोध,मान और लोभ का परित्याग करना चाहिये। श्रमी और सदाचारी मनुष्य ही सच्चा श्रावक है। सांसारिक विषयों में आसक्ति तथा आत्म स्वभाव से अपरिचित साधक आध्यात्मिकता से परे हैं।

आचार्य कुन्द कुन्द की दृष्टि में वैयक्तिक तथा सामाजिक संस्कृति की सुरक्षा हेतु मिथ्यात्व रूपी कोढ का अन्त आवश्यक है।[2] अशुभ भावों के विनाश तथा सुख–शांति मय जीवन के लिये भावों में ऋजुता लाना चाहिये।[3] सांसारिक विषयों, माया मोह आदि से अलिप्त तथा हिंसादि अनात्मिक दुष्प्रवृतियों के दमन की चर्चा आचार्य कुन्द कुन्द ने निरन्तर की है। उन्होंने आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्रमण संस्कृति में प्रविष्ट शिथिलाचार का परिहार किया जिससे श्रावक संस्कृति आज भी जीवित हैं।

जीवन मूल्यों का ह्रास होते देख आचार्य कुन्द कुन्द ने नैतिकता, सदाचार, समभाव, संयम तथा वीतरागता को महत्व दिया। जीवनके इन नैतिक मूल्यों की आवश्यकता वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी अनुभव की जा रही है। आचार्य ने भौतिकता के पंक में अलिप्त आध्यामिकता के कमल को अपनी ज्ञान ज्योति से पुष्पित तथा पल्लवित किया । समयासार

में उन्होंने भैतिकता के समर्थक सिद्धन्तों का खण्डन तथा अनात्मवाद के प्रचारकों पर प्रहार भी किये।

जन जन को आध्यात्मिकता की और उन्मुख करने के लिये ज्ञान और भक्ति मार्ग का समन्वय कर तित्थयर भत्ति, सिद्ध भत्ति और रचनाएँ भी की तथा इनमें उत्तम चरित्र,ज्ञान एवं मगल की कामना की है।

पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय दुर्भिक्ष के प्रकोप से छिन्न भिन्न संघ व्यवस्था को पुनः व्यस्थित करने का श्रेय इनके वैचारिक अवदानों को ही है। सैकड़ों वर्षों के अन्तराल में ज्ञान की विच्छिन्न धारा रहने पर भी आचार्य कुन्द कुन्द के अतिरिक्त ऐसा कोई युग पुरूष उत्पन्न नहीं हुआ जो श्रमण परम्परा में आये शिथिलाचार को दृढतापूर्वक रोक सके तब आचार्य ने श्रमण चर्या में आये शिथिलाचार का विरोध कर नई व्यवस्था दी तथा तत्कालीन समस्याओं के समुचित समाधान भी प्रस्तुत किये। मतभेद के समय तर्कपूर्ण निर्णय दिये। दुराग्रह की भर्त्सना की तथा पक्षपात का दृढ विरोध किया । विच्छिन्न हो रही ज्ञान की श्रुत परम्परा को आचार्य ने लोकभाषा में लिपिबद्ध; करने का साहस किया तथा जनमानस को उदबुद्ध करने के लिये वे आगे आये।

समयसार, पंचास्तिकाय प्रवचनसार, नियमसार, रयणसारादि ग्रंथों में दार्शनिक तत्वों का विस्तृत विवेचन कर मुमुक्षुओं को मोक्ष मार्ग प्रदर्शित किया। अध्यात्म गंगा का अविरल स्रोत प्रवाहित कर ज्ञानरूपी जल से जनमानस के संशय,विमोह रूपी पिपासा को अनुभूत विचार रूपी शीतलता से तृप्त किया।

आचार्य कुन्द कुन्द के साहित्य में शौर सेनी अर्धमागधी तथा महाराष्ट्री प्राकृत का समन्वित रूप दिखाई देता हैं। भाषा विज्ञान के सभी परिवर्तन इनके ग्रंथों में दिखाई देते हैं। संज्ञा[2] सर्वनाम[3] क्रिया[4] और कृदन्त प्रत्ययां[5] के विशिष्ट प्रयोग तथा ध्वनि परिवर्तन[6] भी इनकी रचनाओं में दृष्टव्य हैं। एक ही अर्थ के लिए एक शब्द के विभिन्न प्राकृत रूप दृष्टव्य हैं[1] जैसे स्वभाव के लिये सहाअ,सभाव तथा सहाव,[2] प्राकृत शब्दों के वे विविध प्रयोग जहाँ एक और प्राचीन भाषा के वृहद् शब्द कोष को इंगित करते है। वहीं दूसरी और भारतीय भाषा के विकास क्रम को भी दर्शाते है। साथ ही सरसता का भी प्रतिपादन करते हैं।

आचार्य के ग्रंथों में काव्यात्मकता होते हुए भी सुन्दर गद्य विन्यास है। गद्य में ऐसे सार्थक वाक्य उपलब्ध हैं जिन्हें निरूक्त वाक्य कहा गया है।[3]

सर्वज्ञ की व्याख्या सम्यक्त्व का चारित्र रूप[4] तथा क्रियात्मक आचरण[5] के अतिरिक्त चैत्यगृह, जिनप्रतिमा दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञानदेव,तीर्थ, अरहंत, दीक्षा आदि शब्दों के वाच्य से भिन्न अर्थ प्रदान किया जाना आचार्य कुन्द कुन्द की मौलिकता हैं।[6]

आचार्य के ग्रंथों की सूत्रात्मक कथनशैली के माध्यम से दी गई शब्द की व्याख्या ही उसकी परिभाषा बन जाती है इसलिए इन्हें ''परिभाषा शिरोमणी''[7] कहा गया है। धर्म के स्वरूप की व्याख्या उन्होंने धर्म के विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर की है। यथा–

1. चारित्तं खलु धम्मो (प्रव. 7)	चरित्र ही धर्म है।
2. चरणं हवई सधम्मो (मो. 50)	चरित्र आत्मा का धर्म है।
3. धम्मो सो हवई अप्पसमभावो	आत्मा का समभाव धर्म हैं।
4. दंसणमूला धम्मो (द.प.3)	धर्म सम्यग्दर्शन युक्त है।
5. धम्मो दया विसुद्धो (बो.पा. 24)	धर्म अनुकम्पा से विशुद्ध है।
6. धम्मं भोग णिमित्तं ण (सं. 275)	धर्म भोग के लिये नहीं है।
7. धम्मं कम्म खयणिमित्तं	धर्म कर्मो का क्षय करने के लिये है।
8. संसारतरहेउ धम्मो (भा.85)	धर्म संसार पार करने का हेतु है।

धर्म की इन परिभाषाओं के आधार पर साधक आसानी से धर्म का मार्ग चुन सकते हैं। चरित्र[1] ज्ञान[2] तथा ज्ञानी[3] आदि अनेक शब्दों की व्याख्या में भी यही सूत्रात्मक शैली दृष्टव्य हैं।

पारिभाष्कि सूत्र शैली के साथ सारगर्भित सूक्तियों द्वारा आध्यात्मिकता का समावेश भी आचार्य कुन्द कुन्द की अन्यतम विशेषता हैं। यक्था–

1. एगो में सस्सदो अप्पा	एक मात्र मेरा आत्मा शाश्वत हैं।
2. भाव विहुणस्स किं कुणइ	भाव रहित व्यक्ति का क्या प्रयोजन
3. भाव–विमुत्तो मुत्तो	भावों से मुक्त व्यक्ति ही मुक्ति प्राप्त करता है।
4. संसार तरणहेतु धम्मो	धर्म संसार पार कराने में कारण हैं।
5. अण्णाणी मुणदि रायमेवादं	अज्ञानी राग को ही आत्मा समझता हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि के साथ साहित्यिक दृष्टि भी उनके काव्य ग्रंथों में परिलक्षित होती है। उन्होनें दर्शन के गूढ एवं गम्भीर विषयों को सरस एवं ग्राह्य बनाने के लिये यत्र–तत्र दृष्टान्त ,उपमा[5], रूपक[6], व्यतिरेक[7] तथा अप्रस्तुत प्रशंसा[8] आदि अलंकारों की मनोहर योजना की है। विविध क्षेत्रों से दृष्टान्त लेकर सिद्धान्तों को हृदयंगम करा देना आचार्य

कुन्द कुन्द के प्रकृति विज्ञानी होने का परिचायक है मनुष्य की अज्ञानता का एक दृष्टान्त मोक्षपाहुड में प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते है। कि संसारी प्राणी अपनी उपलब्धि के लिये स्वयं के प्रयत्नों को श्रेय देता है किन्तु असफलता के लिये कर्म को दोष देकर नैतिक आचरणों अर्थात् व्रत, संयम, तप आदि के औचित्य पर प्रश्नचिह्न लगाता हैं। अतः वृक्ष की छाया का दृष्टान्त देकर वे समझाते हैं।

वर–वय तवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ निरई इयरेहिं।

छाया–तव–ट्ठियाणं पडिवालंताणं गुरूस्भेयं।।

अर्थात् हर पथिक को रास्ता पर करना है तथा संसारी को गतियों में भ्रमण करना है। तो क्यों न यह रास्ता सड़क के किनारे लगे वृक्षों की छाया में विश्राम करते हुए पार किया जाय। धूप में दौड़कर रास्ता पार कर हम क्यों दुखी हों धूप और छाया के रास्ते में जो अन्तर हैं।

वही अन्तर संयमी और असयंमी जीवन में हैं, स्वर्ग तथा नरक के दुखों मे है। इसी प्रकार सूत्र पाहुड में सुई और धागे के दृष्टांत से दर्शन और ज्ञान के संयोग की बात की है

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं सौ कुण दि।

सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि।।

छंद वैविध्य की दृष्टि से गाथा, अनुष्टुप्,माध्या,उग्गाहा,गाहू, विपुला आदि छंद के कई भेदों का प्रयोग कुन्दकुन्द के काव्यों में हुआ है। इसमे रूद्धि,बुद्धि लज्जा, विद्या, क्षमा,देवी, गौरी, घात्री,चूर्णा,छाया, कान्ति, महामाया आदि गाथा छंद प्रमुख हैं।[2]

इस प्रकार बहुआयामी व्यक्तित्व आचार्य कुन्द कुन्द ने अपने ग्रंथों में आध्यात्मिक दार्शनिक, तथा शास्त्रीय ही नहीं अपितु साहित्यिक, सांस्कृतिक नैतिक तथा वैचारिक दृष्टि भी दी। जीवन के विविध क्षेत्रों में दिये गये अवदान के कारण ही वे युग प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठत है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूचीः–

पुस्तकः–

1. डॉ. नेमीचंद शास्त्री– तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा–2
2. डॉ. लालबहादुर शास्त्री– आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार
3. डॉ.विद्याधर जोहरापुरकर एवं डॉ.कस्तूरचंद कासलीवाल–वीर शासन के प्रभावक आचार्य

4. डॉ. शुद्धात्मा प्रभा–आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार

5. समयसार

पत्रिका

1. प्राकृत विद्या : वर्ष1 अंक 3–4, वर्ष 2 अंक1

2. अर्हत वचन् : वर्ष 4 अंक 2,3

3. अर्हत वचन् : वर्ष 4 अंक 2,3

Where There's a Will : Reflection of contemporary prevailing Scenario in Urban Educated family.

Dr. Alka Tomar
Asst. Professor
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts and Commerce College,
Indore

Mahesh Dattani has dealt with very unconventional themes. But this play where there is a well reflects functioning of traditional Indian society which is urban educated and quite well off. It fulfills a criterion of traditional Indian family and what is lacking in that family inspite of the fact that he has money and docile wife and he makes fun of Indian mind set which is devoid of understanding and does not care for the worth of individual. There is a void in the relationship of protagnist, Hunsmukh Mehta and his wife. He takes help of Kiran Jhaveri in order to fill that void and makes her trustee of his property and will so that his hard earned money is not squandered away. His very reposing of trust in Kiran shows Indian. Psyche and he has shocked society by dealing with the themes of Siamaees twins who are cojoined at birth in Tara; In this drama Dattani reveals the very fabric of urban, Educated, financially well off Indian family . the authontarian attitude or structure clearly discernible in the very functioning of the day to day routine like activities relating to kitchen.

Where there is a will , is a play which shows that people invent their own way in order to find happiness on their own terms. The developments, twists and terms come not as a surprise but it cannot be said that they are result of scheming and plotting but result of human motivation and wills. Each of the character is round characters and they develop own their own and their strong will power. Ajit is first projected through the mind of their father's unsympathetic eyes as a mothers darling and an ineffectual Nincompoop – an estimation which even his wife seems to share – but is then shows to have resisted and even won, in how ever infinitesimal away against his father in the battle of wills. Mrs. Mehta had lived and suffered so long under the dominance of her husband and her sister, is shown to come into her own at the end of the play. Preeti's selfishness is the reflection of true human character she shows her greediness for money, ultimately she learns a lesson that giving is more important than taking while Kiran jhaveri finds happiness that had eluded her in her past existence.

Hansmukh Mehta dominates each character of his own family and As the drama progresses these characters are able to get liberation from their past, This domineering husband, heavy father and tyrannical boss is gradually dwarfed and diminished to the print of insignificance. of course, he never loses our sympathy for he is given an engaging comic vitality and verve (both in flesh as well as spectre) but we cannot help being unused when we hear that his erstwhile family has made plans to cut down the taramind tree in the garden – his last terrestrial haunt.

This play underscores the fact that the man who has ruled as a domineering father, He is in quest of a father substitute, a man who was rude to everyone because he was insecure himself, an unfaithful husband who did find a friend. It is also a reflection of typical carping of the urbanized and more materially successful son about a restice dehati father.

Hansmukh, protagonist of the drama does not want that his money should be squandered away and terms and conditions are so designed so that finance could be managed scrupulously. After his death he becomes a ghost and gets a number of phone calls. He gets respite from phone calls and he enjoy the bliss and place which he could not enjoy.

Mr. Mehta a garment tycoon dead;" you her really know how famous you are until you are dead;"[1] He makes a special will and thus makes at the functioning of Indian mind and their craving for money. In a well to do business community, their heir or sons are interested in money and he has made travesty of whole system and it is a sham reality that people nurture attitude of reverence for their parents. Their death is not lamented upon and the empire of business which he has built reveal the functioning of our system and selfish attitude of children and from the very beginning people 'hankering for money of their parents and ancestor is revealed. Ghost of Hansmukh exclaims: "I have made a special will and they are going to hate me for doing this''[2] Only seven days condolence is observed and they postulate various ways of spending money in the meantime. He has exposed trust in Kiran Jhaveri and has made her trustee of his finance and is marketing executive and manages his finances and he shows his pragmatism as well as reckless attitude of Indian family and attitude of children are exposed.

Thus death is not lamented upon and the empire of business he has built reveal the Dattani drams upon and exploits the resources this convention of theatrical art is manifested in the way Preeti substitutes her vitamin pills in bottle of her father in law blood pressure table is discovered through a series of logical steps. Preeti's frustration at not having inherited Hunsmukhs money leads her to abuse her husband and subsequently burst into tears.

The comedy is underlying and it underscores the fact that a person who does not want to lose grip over their family members is exposed at the end. He becomes ghost and realizes the selfish attitude of his family that Kiran Jhaveri will act as a trustee till 23 years and after that long period he will become capable of independently managing his business. Kiran is also victim of patriarchal family. Her husband is a drunkard and father was also hostile towards his wife and brothers were also instruments of that unjust social system where wife beating is so common, even in urban educated family. Hansmukh does not have faith in his wife, son, daughter in law, and exclaims: "I have prayed for a daughter''[3]

Kiran has revealed her anguish and frustration in the Indian family system where wife in abused in an urban educated family and she mentions the incidence of her life in order to highlight the plight of Indian women and Kiran mentions that her father was a drunkard who used to come home drinking and using violence against his wife. Kiran tries to soothe her tormented soul by helping Hansmukh Mehta and his property. The play ends with the philanthropic spirit inherent in human being. The functioning of selfishness and self sacrifices are juxtaposed.

References

1. Dattani Mahesh , ' Collected plays ' pp 479
2. 'bid " pp 479
3. 'bid , " pp 460

Advantages & Disadvantages of E-Learning

डॉ. सुधीर सक्सेना
सहायक प्राध्यापक – समाजशास्त्र
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

सूचना प्रौद्योगिकी के तेजी से विकास करने से शिक्षा का स्वरूप भी बदल गया है। आज ई–लर्निंग का जमाना है, ऐसे में आप कहीं भी बैठे देश–विदेश की शिक्षण संस्थाओं की डिजिटल क्लास का लाभ उठा सकते हैं। इससे दूरस्थ शिक्षा के क्षेत्र में भी विकास हुआ है। इतना ही नहीं ई–लर्निंग कोस्ट सविंग और फ्लेक्सीबल है। हालांकि ई–लर्निंग जिस तरह से फायदेमंद है उसी तरह से इसके कुछ नुकसान भी हैं। इस शिक्षा पद्धति के लिए कंप्यूटर और इंटरनेट, दोनों ही महत्वपूर्ण अंग हैं, इनके बिना ई–लर्निंग संभव नहीं है। ऐसे में रिमोट एरिया सें तकनीकी विकास के अभाव के कारण ई–लर्निंग की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस शिक्षा मे स्टूडेंट और टीचर के बीच भी सीधा संवाद नहीं होता है।

क्या है ई–लर्निंग :

इलेक्ट्रॉनिक माध्यम से दी जाने वली किसी भी प्रकार की शिक्षा को ईं–लर्निंग कहा जाता है। इसमें शिक्षा का माध्यम किताब न होकर, पिक्चर, वीडियो, आवाज या फिर टेक्स्ट भी हो सकता है। यह शिक्षा इंटरनेट और कंप्यूटर के जरिए मुहैया करवाई जाती है। इसमें आप एप्लीकेशन सॉफ्टवेयर के माध्यम से पढ़ाई कर सकते हैं। इसके अलावा विभिन्न क्लास, पाठ्यक्रम और अभ्यास पेपर के डिजिटल फॉर्मेट को भी एप्लिकेशन्स के माध्यम से अपने कंप्यूटर और स्मार्टफोन पर उपलब्ध कर सकते हैं।

ई–लर्निंग के फायदे :

फ्लेक्सीबल है ई–लर्निंग : ई–लर्निंग को आप अपने समय के अनुसार सेट कर सकते है। यदि आप दिन में किसी जॉब या अन्य कारण से क्लास रूम में जाकर शिक्षा नहीं ले सकते हैं, तो ऐसे में ई–लर्निंग बहुत अच्छा विकल्प हो सकती है।

कभी–भी, कहीं–भी : स्टूडेंट्स को स्टडी के लिए नोट्स, थ्योरी, डाइग्राम आदि की जरूरत पड़ती है। इसके लिए ई–लर्निंग अच्छा तरीका है, जिसमें आप कभी भी कहीं भी अध्ययन सामग्री का पूरा लाभ उठा सकते है।

तुरंत मिलता है रिजल्ट और फीडबैक :

इसमें ऑनलाईन पेपर टेस्ट की सुविधा होने से आप अपना आंकलन आसानी से कर सकते हैं। इसके लिए ई–लर्निंग में बहुत तरह के सॉफ्टवेयर होते हैं, जिससे प्रैक्टिस भी बढ़ती है।

बढ़ती है रिटेन्शन क्षमता :

इस टेक्निक में लर्निंग के लिए प्रजेन्टेशन, मल्टीमीडिया जैसे इमेज, वीडियो आदि का उपयोग किया जाता है, जिससे स्टूडेंट्स जो भी पढ़ते हैं, उसे आसानी से समझ पाते हैं। इससे समझ भी विकसित होती है।

कम लागत वाली है :

किसी संस्थान तक जाने के लिए रोजाना ट्रांसपोर्ट का खर्चा देना पड़ता है। इसके अलावा अध्ययन के लिए अन्य शहर में भी नहीं रहना पड़ता। इंटरनेट के थोड़े से खर्चे से ही इस शिक्षा का लाभ ले सकते हैं।

ई–लर्निंग के नुकसान :

कंट्रोल की कमी :

इसमें लर्निंग टीचर के द्वारा कंट्रोल नहीं होती, ऐसे में स्टूडेंट को, शिक्षा के लिए मोटिवेट नहीं किया जा सकता है। यह शिक्षा स्टूडेंट की इच्छा पर निर्भर करती है। कई बार वे पढ़ाई के प्रति लापरवाह भी हो जाते हैं।

तकनीक पर है निर्भर :

भारत की आधी से ज्यादा जनसंख्या गांवों में निवास करती है। वहाँ तकनीक विकास की कमी के चलते ई–लर्निंग की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसीलिए अभी भी बहुत बड़ा वर्ग इस शिक्षा से वंचित है।

प्रेक्टिकल वर्क में कमी :

इस तरह की शिक्षा में स्टूडेंट्स को वीडियो के माध्यम से ही प्रेक्टिकल नॉलेज दी जाती है। यदि प्रेक्टिकल के दौरान किसी तरह की समस्या आए तो टीचर की मदद नहीं मिलती है।

डिसेबल्ड में अनुपयोगी :

डिसेबल्ड लोगों के लिए ई–लर्निंग फायदेमंद नहीं है, क्योंकि वे तकनीक का उपयोग नहीं कर सकते हैं। सामान्य शिक्षा पद्धति में ब्रेल लिपी की सहायता से दृष्टिहीन व्यक्ति भी शिक्षा का लाभ ले सकता है।

लर्निंग अप्रोच में कमी :

इस शिक्षा का फायदा तभी उठाया जा सकता है जब आपको कंप्यूटर की नॉलेज हो। ई–लर्निंग से पहले कंप्यूटर पर काम करने की बेसिक समझ भी होनी चाहिए। इंटरनेट का यूज करना भी आना चाहिए।

एक रिपोर्ट से सामने आया कि भारत मे इंटरनेट यूज करने वालों की संख्या 2020 तल 500 मिलियन हो जाएगी। इसी के साथ 2047 में ई–लर्निंग इंडस्ट्री का मार्केट 40 बिलियन डॉलर तल पहुंचने की संभावना है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. Robinson, Rhonda; Molenda, Michael; Rezabek, Landra. "Facilitating Learning" Association for Educational Communications and Technology. Retrieved 18 March 2016.
2. Dekel, Gil. "So, what does a Learning Technologist do?". Retrieved 3 July 2006.
3. Richey, R.C. (2008). "Reflections on the 2008 AECT Definitions of the Field". TechTrends. 52 (1): 24–25. doi:10.1007/s11528-008-0108-2.
4. mLearning Is Not eLearning on A Mobile Device - Float". Float.
5. "Nurse education in second life at Glasgow Caledonian University demo". YouTube. Retrieved 2013-10-22.
6. "Second Life Nursing Simulation". YouTube. 2009-09-16. Retrieved 2013-10-22.
7. "Universities Use Second Life to Teach Complex Concepts". Government Technology. Retrieved 2013-10-03.
8. Warren Buckleitner (2008-06-12). "So Young, and So Gadgeted". The New York Times.
9. Meidlinger, K. "Choosing media for children checklist" (PDF). KQED.org (adapted from Rogow, F.). San Francisco: Kids Watch Monthly.
10. Publications. "The Rise of Cyber-Schools". The New Atlantis. Retrieved 2012-10-24.

''अनाथालय में निवासरत अनाथ बच्चों की स्थिति का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन''

(रायपुर छ.ग. के उपक्षेत्र माना कैम्प में स्थित शासकीय बालगृह के विशेष संदर्भ में)

डॉ. भगवतसिंह राय
प्राध्यापक(समाजशास्त्र)
शासकीय कला एवं वाणिज्य
महाविद्यालय, इन्दौर (म.प्र.)

सरिता बडोले
(पीएच.डी. शोधार्थी)

<u>प्रस्तावना</u> :– प्रस्तुत रूपरेखा अनाथालय में निवासरत अनाथ बच्चों की स्थिति का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (रायपुर छ.ग. के उपक्षेत्र माना कैम्प में स्थित शासकीय बालगृह के विशेष संदर्भ में) पर आधारित है।

बच्चे समाज व देश का भविष्य है जिस देश व काल में इनके प्रति औचित्यपूर्ण संतुलित विचार रखा जाता है। वह देश उत्तरोत्तर ही उन्नतिशील व प्रगतिशील हो जाता है। बच्चे सामाजिक जीवन की नींव है जो आगे बनने वाले सर्वश्रेष्ठ समाजसेवी इमारत का आधार है एवं बच्चों को किसी भी देश के भावी नागरिक माना जाता है इसलिए प्रत्येक समाज बच्चों के भविष्य के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने का प्रयास करता है। इसके बावजूद दुनिया के लगभग सभी देशों में बच्चों के प्रति आपराधिक घटनाओं में निरंतर वृद्धि हो रही है।

बालक भगवान का मूर्तिमंत्र माना गया है। उसकी निश्छलता, स्वाभाविकता, शुद्ध सात्विकता तथा भोलेपन आदि को देखकर कौन सा हृदय मुग्ध हो नहीं उठेगा ? व्यावहारिक जीवन में बालक की उपेक्षा ही की जाती है उसके चरित्र निर्माण के पथ पर रात–दिन कांटे ही बिछाए जाते हैं और माँ–बाप चाहते हैं कि उनका बालक कम से कम वैसा तो बने जैसा वे चाहते हैं घृणापूर्ण व्यवहार से दूषित ऐसे अस्वस्थ वातावरण में पले हुए बच्चों का दृष्टिकोण इतना संकुचित हो जाता है कि वे समाज के शत्रु बन जाते हैं। घृणा एक घोर समाज विरोधी भाव है जब कि प्रेम जीवन का बंधन तथा मानव–सहचर्य की प्रेरणा है जिस बच्चे को निरंतर यह महसूस कराया जाए कि वह घृणा का पात्र तथा व्यर्थ का बोझ है उसे क्यों न विश्वास हो कि उसके लिये कोई स्थान नहीं है यही विश्वास समाज में विद्रोहियों, अपराधियों और सामाजिक पंगुओं को पैदा करने का कारण है एक उपेक्षित एंव घृणा के पात्र बालक के मन में कई तरह के प्रश्न उठते हैं।

आज वे बच्चे जो किसी देश का भविष्य समझ जाते हैं जो हमारे देश के भावी नागरिक होंगे आज हम बच्चे जो किसी संरक्षक के बिना मिलते हैं जिनकी देख–रेख करने वाला कोई नहीं है जिनके रहने खाने–पीने आदि की व्यवस्था करने वाला कोई नहीं है जो अपने जीवन के लिए संघर्ष करते हैं क्या ये बच्चे इन सभ्य मानव समाज से अलग है जब सभी चाहे वह मानव हो, पशु हो, पक्षी हो सभी समूह में रहना चाहते हैं तो इन बच्चों को समाज से अलग कैसे समझा जाता है।

बच्चे जो देश का भविष्य है वे फूलों की तरह निश्छल और सुन्दर होते हैं उनका मन बहुत ही साफ होता है तथा माता–पिता के प्रेम और दुलार की किरणों से वृक्ष रूपी युवा शरीर पाकर अपने जीवन की शुरूआत करते हैं। परन्तु इन्हीं कोमल और निश्छल बच्चों के सिर से यदि उनके माता–पिता का साया हट जाए तो इन पर बहुत ही बड़ा दुष्प्रभाव पड़ता है और अनाथ की तरह जिन्दगी व्यतीत करते हैं इसका बहुत ही बुरा असर उनके जीवन पर पड़ता है।

अनाथ बच्चे अपने माता–पिता के प्रेम के लिए जीवन भर तरसते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है और दूसरों के सामने हाथ फैलाकर अपना पेट भरना पड़ता है तथा अपनी भूख शांत करने के लिए किसी कारखाने में बाल मजदूरी करते हुए, होटलों में बर्तन साफ करते हुए, घरों में झाड़ू–पोछा करते हुए तो कभी सड़कों या स्टेशनों पर भीख मांगते नजर आते हैं। कभी–कभी तो ऐसे बच्चे चोरी भी करते हैं और धीरे–धीरे अपना संगठन बनाकर कई बार बड़े अपराधों को भी अंजाम देते हैं।

आज शहरों में आधुनिकीकरण के चलते जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हो रही है जिससे गरीब लोग और भी गरीब होते जा रहे हैं इसलिए वे अपने बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते एवं बच्चे अपराध की ओर कदम बढ़ाते हैं। कई माता–पिता अपनी आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण भी अपने बच्चों को अनाथ आश्रम में छोड़ देते हैं और सारे खर्चे शासकीय कोष की गैर सरकारी या सरकारी संस्थाएँ वहन करती हैं। ऐसी संस्थाएँ बेसहारा, असहाय, निर्धन, गरीब लोगों को प्रत्यक्ष लाभ देते हैं। इन संस्थाओं का उद्देश्य इनका कल्याण करना होता है।

संगठनों के सहयोग से भी निराश्रित आश्रम चलते हैं, संगठन भी इनको बढ़ाने में अपनी भूमिका का निर्वाहन करते हैं। संगठनों के प्रत्यक्ष सहयोग से व उनके नेतृत्व से भी

ये आश्रम लाभान्वित होते हैं। बच्चे जो निर्धन है उनको ही इन आश्रमों में रखा जाता है। इसमें निर्धन, असहाय दृष्टिहीन आदि प्रकार के आश्रमों को संगठनों से ही बल मिलता है। इनमें से अनाथ आश्रम समाज का अभिन्न अंग है जिसमें रहने वाले बच्चे राष्ट्र की धरोहर है। इस आश्रम में रहकर बच्चे नैतिक शिक्षा व नित नियमों का पालन करना व लिखना पढ़ना सीखकर समाज के पथ प्रदर्शक बनते हैं जिससे आने वाले अन्य बच्चे उनके चरित्र का अनुकरण कर सकें। समाज में अनाथ आश्रमों की भूमिका वर्णनीय है।

सरकार तथा स्वयं सेवी संगठनों द्वारा देशभर में ऐसी कई संस्थाएँ है जो इन अनाथ बच्चों की देखभाल करते हैं। घर जैसे वातावरण में रखा जाता है एवं शिक्षा प्रदान करते हैं तथा उन्हें जिससे कि वे अपने पुराने कामों और बुरी आदतों को छोड़कर अपने पढ़ाई और जीवन पर ध्यान दें उन्हें संस्था द्वारा अच्छी बातें सिखाई जाती हैं उनका पालन–पोषण किया जाता है। संस्था में 0 से 12 वर्ष तक के बच्चों को रखा जाता है जिसमें महिलाएँ तथा पुरूष दोनों ही कर्मचारी इनकी देखभाल करते हैं। 12 वर्ष के पश्चात इन्हें बाल संप्रेक्षण गृह में भेज दिया जाता है। जहाँ वे 14 वर्ष की उम्र तक रहते हैं और अपनी आगे की पढ़ाई करते हैं। फिर उन्हें 14 से 18 वर्ष तक की आयु तक किशोर गृह में रखकर आगे की पढ़ाई पूर्ण करवाते हुए व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे कि वे 18 वर्ष के बाद अपना कार्य या नौकरी करके अपनी जीवन–यापन उचित माध्यम से कर सकें। सरकार द्वारा अनाथ बच्चों की पढ़ाई तथा उनके विवाह के लिए कई योजनाएँ चलाई जा रही हैं। जिनका वे लाभ उठाकर अपने जीवन को बदल सकते हैं। उनका विवाह भी सरकार की योजनाओं द्वारा हो जाता है और कई बच्चे जो पढ़ाई में अच्छे अंक प्राप्त करते हैं उन्हें भी सरकार द्वारा छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती है जिससे कि वे आगे की पढ़ाई पूरी कर सकते हैं। आज भी कई अनाथ बच्चों ने देश का नाम उज्जवल किया है और आज बड़ी–बड़ी संस्थाओं तथा सरकारी कार्यालयों में कार्यरत हैं।

अतः समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि बच्चे जो अनाथ होते हैं उन्हें हेय तथा उपेक्षा की दृष्टि से न देखकर उन्हें भी सम्मान व प्रेम मिलना उतना ही जरूरी है जितना कि अन्य बच्चों को दिया जाता है उसी से देश में उन्नति एवं विकास संभव हो सकेगा और बच्चे वाकई उज्जवल भविष्य का निर्माण कर सकने में सक्षम होंगे।

अध्ययन का उद्देश्य :– स्वयं सेवी संस्था व गैर सरकारी संस्था किस प्रकार के समाज कल्याणकारी कार्य कर रहे हैं जिससे बच्चों को एक संरक्षित वातावरण मिलने पर उन्हें

किस प्रकार उन्हें विकसित सभ्य समाज के मुख्यधारा में जोड़ने का प्रयत्न कर रही है, जिससे समाज व राष्ट्र दोनों ही लाभान्वित हो सकें। यही जानना इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है।

अध्ययन पद्धति :– शोध कार्य के दौरान तथ्य संकलन हेतु सरल दैव निदर्शन पद्धति की लॉटरी विधि को माध्यम से साक्षात्कार अनुसूची एवं अवलोकन विधि का प्रयोग किया। लॉटरी पद्धति का प्रयोग करते हुए शासकीय बालगृह माना कैम्प रायपुर जिसमें उत्तरदाता बालकों की जनसंख्या 250 है, इन्हीं बालकों में से 100 बालकों का चुनाव किया गया है जो पूरे संस्था का प्रतिनिधित्व करता है।

अध्ययन क्षेत्र :– अध्ययन कार्य हेतु रायपुर छ.ग. के उपक्षेत्र माना कैम्प में स्थित शासकीय बालगृह का चयन करते हुए शोध कार्य पूर्ण किया गया है।

शोध परिकल्पना :– किसी भी शोध कार्य को प्रारंभ करने से पहले उस शोध कार्य से संबंधित कुछ तथ्यों का संकलन किया जाता है ताकि उस शोध कार्य संबंधित सही आँकड़ों की प्राप्ति तक पहुँचा जा सके। इसी के अंतर्गत शोध कार्य से संबंधित शोध परिकल्पनाओं का निर्माण किया जाता है ताकि अध्ययन विषय की मांग के अनुसार समुचित निर्देशन में अध्ययन कार्य को पूर्ण किया जा सके। प्रस्तुत अध्ययन अनाथालय में निवासरत् अनाथ बच्चों की स्थिति का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन रायपुर छ.ग. के उपक्षेत्र माना कैम्प में स्थित शासकीय बालगृह के विशेष संदर्भ में) जिसके लिए निम्नलिखित शोध परिकल्पनाओं का चयन किया गया है :–

- बच्चों का परिवार से उपेक्षित होने के मानसिक व्यावहारिक लक्षणों का अध्ययन।
- बच्चों के अनाथ होने से उनके जीवन में हो रहे प्रभावों का अध्ययन।
- बच्चों के संरक्षण एवं सुविधाओं का अध्ययन।

अध्ययन विषय का समाजशास्त्रीय महत्व :– एक सभ्य व्यवस्थित समाज हेतु सभ्य बच्चे की आवश्यकता है। अतः देश का समस्त विकास बच्चों की भागीदारी के बगैर संभव नहीं बच्चों को विकास की मुख्यधारा से जोड़े बिना किसी समाज, राज्य, देश की सामाजिक, आर्थिक विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

स्पष्टतः समाज में बाल वर्ग का अपना विशेष महत्व होता है उपेक्षित, निराश्रित, अनाथ बच्चों को संरक्षित रखकर किसी प्रकार समाज को अपराध से बचाया जा रहा है। इस विषय पर समाजशास्त्रीय अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

निष्कर्ष :–प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध जिसका शीर्षक अनाथालय में निवासरत् अनाथ बच्चों की स्थिति का एक अध्ययन है जो रायपुर (छ.ग.) का उपक्षेक माना कैम्प में स्थित शासकीय बालगृह पर आधारित है।

उत्तरदाताओं से साक्षात्कार के दौरान तथा उनसे मिलकर किये गये सभी अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि बच्चों के द्वारा भी बहुत–सी अपराधिक गतिविधियाँ होती हैं। प्रशासन द्वारा इसे रोकने व कम करने का प्रयत्न किया जा रहा है जिसके फलस्वरूप जिन्हें बिना किसी उद्देश्य के घूमते पाया है या जिसका संरक्षक नहीं होता है या जिससे अपराध होने की संभावना हो ऐसे बच्चों को प्रशासन के द्वारा संस्था में लाया जाता है या बच्चे जिनके कोई माता–पिता या संरक्षक नहीं है या है तो पालन–पोषण करने में असमर्थ हैं ऐसे बच्चों को परिवार के द्वारा लाया जाता है या कोई गैर सरकारी संस्था द्वारा लाया जाता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

01. दास, भगतः बाल विकास, ओमेगा पब्लिकेशन, (2006)
02. कुमारी, आशा : सामाजिक परिवेश में बाल विकास, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, 2005
03. वाजपेयी, डॉ. एस.एस. : सामाजिक अनुसंधान तथा सर्वेक्षण, किताबघर, कानपुर (1971)
04. मुकर्जी, रविन्द्रनाथ : भारतीय जनता तथा संस्थाएं, (1982)
05. लावणिया, डॉ. एम.एस. एवं जैन, शशि के. : अपराधशास्त्र रिसर्च पब्लिकेशन (1989–90)
06. सिंह. डॉ. श्यामधर : अपराध के सिद्धांत, कमल प्रकाशन, (1991)
07. बघेल, डॉ. डी.एस. : अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, (1996)
08. अनुसंधान योजना आयोग, भारत सरकार : भारत मानव विकास रिपोर्ट तथा सामाजिक समावेश की ओर, मानक पब्लिकेशन, (2014)
09. महाजन, डॉ. धर्मवीर एवं डॉ. महाजन कमलेश : सामाजिक अनुसंधान का प्रणाली विज्ञान, विवेक प्रकाशन, (2013)

The Metafictive, Post Modernism Concepts in the Novels of John Barth

Dr. Renu Sinha
Asst. Professor – English
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts and Commerce College,
Indore (M.P.)

John Barth has been at the forefront of a campaign to redirect the exhausting narrative in the American novels. He has encompassed quite a number of literary strategies, inviting varied critical labels, American absurdist, block humorist, fabulator and neo-realist. John Barth led the American fiction of the sixties to break new ground in terms of its form and content. Drawing on the modern as well as the postmodern poetics of fiction, has he has set a course which has undermined the conventional taken in exhausting fiction.

John Barth, called Jack was born in Cambridge, Maryland. He began his career with '*The Flouting Opera*' and '*The End the Road*', two short realist novels that deal wittily with controversial topics such as suicide and abortion respectively. They are straight forward realistic takes. *The Sod-Weed Factor* (1960), with block humors as its pre-dominant theme completes Barth's discovery of Postmodernism.

Barth's *Giles Goat-Boy* is a speculative fiction based on the concept of the University as Universe. A boy raised as a goat discovers his humanity and becomes a savior in a story. The short story collection *Lost in the Funhouse* (1968) and the Novella *Chimera* (1972) are in metafictional in theme. John Barth's use of post modernism was used in *The Floating Opera*. The plot pattern which is un-circular and non-linear and it is called fragment narrative.

The Floating Opera has a special plot pattern without chronological order, the reader needs to find out where is the beginning, where is the middle and where is the end. The language uses many short sentences with capital letters, using many short sentences with capital letters, using exclamation marks, dashes and many symbols that contribute to fragmentation.

The End of the Road is a deeply philosophical novel and it's mainly concerned with the basic problems and questions of existentialism. Ironic in approach the starting point of the novel is realistic and absurd at the same time. It has three protagonists a person with no personality and person with strong personality and a person with copycat personality this novel has a very intriguing realistic style.

The Sod Weed Factor is a bare-knuckled satire of humanity and the grandiose costume romance done with meticulous skill in invitation of eighteenth century picaresque novelists as Fielding, Smollett and Sterne. The plot itself is a parody in its incalculable complexity, a tissue of intrigue and counter-intrigue, ludicrous mock heroic adventure, masquerades and confusion of identity. It three major figures are Ebenezer Cook, his twin sister Anna and Henry Burlingame. The language as by the characters and story is at once fantastical, venal, ribald preposterous, plausible and flat out hilarious, Barth's masterly act of authorial ventriloquism, a vivid recreation of the cadences and vocabulary. Barth does excel as an American novelist trying to capture the impulses and foibles of a nation convinced of its own righteousness-in love with its own virtue and virginity.

Lost in Funhouse is often considered as a demonstration of Barth's claim the post modernism writers need to regenerate fiction by productivity acknowledging its thematic and formal "used-upness" and classical literature .Barth draws on myriad disparate sources to craft multiple fourteen short pieces based on 'frame – tale' techniques that erudite Barth's knowledge of contemporary influences drawing on myths , epic traditions as it mirrors the literary future.

Chimera is a fantasy novella. It is an example of post modernism and can be seen in its metafictional content and its incorporation of stylistic elements. Chimera is written in three loosely related sections consisting of three parts retelling three ancient myths (The story of Scheerzade, Perus,and Bellerophon) complicated together by accretions and repetitions, all in pursuit of a pattern it makes in that very pursuits. *Chimera* is a shut-your-critic-mouth exhibition of the crafty master's craft. The act of writing in the written. *Chimera* is made out of impossibilities of sentimental, erotic, yet 'serious' male and female relationships either in marriage or romance when the male is self conscious hero- an author, say twisted spirituality

into his own reputation, or a married Chimera obsessed by class in his part while his wife in hers, does not become younger looking.

John Barth is one of those novelists who communicate by storytelling. He had chosen novel as the best genre and postmodernism as a best technique of writing to open the world the novelty and creativity in literature. In his novels he has characters that suffer from pain of being and when they try to tell us their life story, it alleviates their tension. The pain they suffer is larger than life. Barth used postmodernism as a movement to protest against the situation they are trapped in and he used post technique such as fragmentation, metafiction, intertextuality and black humors in short this affliction.He also used infinite regress, story within story, use of popular genres, parody and inter determinacy as a technique. The style and technique and critical deconstruction through the characterization; plot and artistic language through characterization is par excellent.

John Barth's use of realism and metafiction in his novels dismiss used up traditions and represent novels which imitate the form of the novel, by an author who imitates the role of Author.

Refrences :

- Barth, John : Complete Works, published by Anchor United State of America, 1996

अहिल्याबाई होल्कर द्वारा किये गये निर्माण कार्य

डॉ. शिवा खण्डेलवाल
सहायक प्राध्यापक – इतिहास
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

भारत वर्ष की धर्म परायण एवं सर्वकल्याणकारी हिन्दू संस्कृति की साक्षात प्रतिमूर्ति देवी अहिल्याबाई एक साधारण से परिवार में जन्म लेकर एक विशाल साम्राज्य की सर्वोसर्वा बनीं। अपनी महानता के कारण अपने जीवनकाल में ही माँ, सती व देवी के रूप में पूजित होने वाली उनके समान दूसरी महिला विश्व इतिहास में नहीं हुई।

देवी अहिल्या पर अपने माता–पिता के सरल सात्विक व धर्म परायण जीवन का बचपन से ही गहरा व स्थाई प्रभाव पड़ा। माता–पिता से प्राप्त इन संस्कारों के कारण ही वे जीवन पर इतनी सरल व तेजस्वी, धार्मिक व महान महिला बन सकीं। अपने पुत्र की मृत्यु के पश्चात् महेश्वर को अपनी राजधानी बनाकर राज्य का सम्पूर्ण संचालन अपने हाथ में लेकर और राजकोष पर तुलसी पत्र रखकर उसे धार्मिक कार्यों में ही खर्च करने का उन्होंने संकल्प लिया। इस संकल्प का पालन भी पूर्ण कठोरता से किया। परिणामतः देश भर में उन्होंने अनगिनत मंदिर, घाट, धर्मशाला, कुंए, बाबड़िया, तालाब आदि बनवाए। बड़ी संख्या में अन्नक्षेत्र व सदाव्रत बनवाकर उन्होंने दानधर्म की विशाल सरिताएं प्रवाहित की थीं।

अपने कार्यकाल में उन्होंने पूर्ण धार्मिकता का परिचय देते हुए सम्पूर्ण भारत वर्ष में मंदिरों, घाटों, कुओं, बावड़ियों का निर्माण किया। उन्होंने शैव धर्म के साथ–साथ अन्य धर्मों व उनकी भाषा संस्कृतियों का रक्षण व संरक्षण न केवल मालवा में अपितु निमाड़ राजस्थान और महाराष्ट्र के बाहर दिल्ली व अटक से लेकर कटक तक किया। जिसका प्रभाव आज भी इन क्षेत्रों के मंदिरों में स्पष्ट दिखाई देता है।[1]

देवी अहिल्याबाई होल्कर ने महेश्वर में 97 मंदिरों में से 27 शैव सम्प्रदाय के 28 घाटों में से 7 घाट शैव सम्प्रदाय के निर्मित कराए। ओंकारेश्वर के शिव मंदिर शीर्ष पर लगा ध्वज, महाशिवरात्रि का आयोजन, महापूजा, संततपूर्ण इन्दौर का इन्द्रेश्वर मंदिर नेमावर का सिद्ध मंदिर, पेटलावद का नीलकण्ठेश्वर मंदिर, सिरोंज का नीलकण्ठ मंदिर एवं

जटाशंकर मंदिर व मण्डलेश्वर के मंदिरों के साथ ऐसे अनगिनत और असंख्य मंदिर हैं जिन्हें अहिल्याबाई ने निर्मित कराये थे।[2]

इन मंदिरों के निर्माण में स्थानीय सामग्री एवं स्थानीय कलाकारों की भागीदारी से इनमें स्थानीय शैली का समावेश हो जाना स्वाभाविक है, जो आज भी देखे जा सकते हैं।[3]

उन्होंने अयोध्या में श्री राम मंदिर, गंगोत्री में विश्वनाथ, केदारनाथ, भैरव और अन्नपूर्णा के चार मंदिर व छः धर्मशाला, गया में विष्णुपद मंदिर व लक्ष्मीनारायण मंदिर निर्मित कराया गया तथा भगवान के प्रति भक्तिभाव प्रकट करने के लिए अपनी मूर्ति भी बनवाई। काशी में सन् 1785 मनकर्णिका घाट व दशाश्वमेघ घाट बनवाया। विश्वेश्वर मंदिर की मरम्मत करवाई तथा गौतमेश्वर व अहिल्याद्धारकेश्वर नामक मंदिर बनवाए। परली बैद्यनाथ मंदिर की मरम्मत, नासिक में श्री राम मंदिर, सुल्तानपुर में मंदिर, संगमनेर में राम मंदिर, पंढरपुर व पुष्कर में मंदिर व धर्मशाला, रामेश्वर में धर्मशाला और लंगर शुरू किया व पूजा की व्यवस्था की। ऋषीकेश में गणपति मंदिर व अन्य अनेक मंदिर, सोमनाथ में मंदिर व मूर्ति स्थापित की। हरिद्वार में कुशावर्त और हरी की पौड़ी में विशाल घाट और बड़ी–बड़ी धर्म शालाएं, हंडिया में 60, 70 फुट ऊँचा सिद्धनाथ मंदिर व नर्मदा किनारे घाट बनवाए। दारूकावन नागेश्वर मंदिर, जगन्नाथपुरी, भीमाशंकर व द्वारका में पूजा अर्चन की व्यवस्था व पुजारी को निर्वाह के लिए कुछ गांव इनाम में दिये। उज्जैन के चिन्तामण गणेश मंदिर के जीर्णोद्धार व रखरखाव आदि की व्यवस्था भी उनके द्वारा की गई थी।[4] इसके अतिरिक्त चित्रकूट में श्रीराम का मंदिर व उनमें राम पंचायतन की मूर्तियों की स्थापना, चौढ़ी, (मायके में), गांव में नदी पर घाट व अहिल्येश्वर मंदिर बनवाया था। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों में धर्मशालाएँ, महेश्वर में किला, घाट व छतरियाँ, आलमपुर में मल्हारराव होल्कर की छतरी आदि भी उनके द्वारा निर्मित कराए गए।

अहिल्याबाई होल्कर ने मंदिरों में पूजा, अर्चना जीर्णोद्धार व देख–रेख के लिए मालवा में कई पुजारी, मूर्तिकार, चित्रकार व महाराष्ट्र के अन्य लोगों को लाकर बसाया था जिन्होंने धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता का जो समन्वय व सद्भाव स्थापित किया। वह आज भी देखने को मिलता है।[5]

यद्यपि अहिल्याबाई शिवभक्त थी पर उनका धर्म कभी भी अन्य सम्प्रदायों की उन्नति में बाधक नहीं बना। उनसे जुड़े कई मंदिरों, घाटों, सरायों, तालाबों, स्नानकुण्डों, कुंए व बावड़ियों तक ही उनका निर्माण कार्य सीमित नहीं था। उन्होंने हिन्दू धर्म व अन्य सम्प्रदायों

के साथ–साथ दरगाहों तथा मुल्ला मौलवियों को भी मुक्त हस्त से दान दिया था। इस बात का प्रमाण महेश्वर, मण्डलेश्वर और उनके राज्य क्षेत्र की दरगाहों से मिल जाता है। सिद्धवर कूट का जैन तीर्थ उन्हीं के काल में प्रसिद्ध हुआ था।[6]

अहिल्याबाई ने जो घाट बनवाये, वहाँ गरीब जनता आज भी अहिल्याबाई को दुआ देते हुए पानी भरती हैं। हिमालय की ठण्डी गोद में गर्म पानी के बने हुए कुंड आज भी हजारों यात्रियों के लिए आधार हैं।

मंदिरों की मरम्मत, धर्मशाला, लंगरो आदि से वे अपने समाज की सत्प्रवृत्ति का आह्वान करती थी, सत्प्रवृत्ति को जीवित रखने के लिए वे आधार दिया करती थीं। कथा कीर्तनों में अपनी परम्पराओं को जागृत करते हुए जगह–जगह वे संस्कृति के केन्द्र खड़े कर रही थीं। एक ही समय में वे एक हाथ से राज्य कार्य संभालती थीं और दूसरे हाथ से वे देव धर्म के नाम पर लोकोपयोगी कार्य करती थीं। अपने इन कार्यों से वे भारत वर्ष की सनातन संस्कृति का अस्तित्व जगाती थी।

देवी अहिल्या ने इस देश के चहुं और जो मंदिर बनवाये थे वे इस भूमि के सुंदर आभूषण हैं। ये आभूषण भारत के अनेक राज्यों में बिखरी हुई विविध रंगी संस्कृति की समानता को एक सूत्र में पिरोने वाले हैं। हिमालय के गर्म पानी के कुंए, नदियों पर बने सुंदर घाट, तालाब, धर्मशालाएँ आदि के जरिए अहिल्याबाई की स्मृतियाँ भारतवासियों को आह्वान कर रही है।

मानवता को विशेषकर भारत को अहिल्याबाई की देन कई रूपों में गिनाई जा सकते है। उन्होंनें इस देशे में धार्मिकता की, सात्विकता की, निष्काम कर्मयोग व मानवता के लिए सर्वस्व अर्पण करने की शुभ दिशा प्रदान की। पुत्री, स्त्री, बहु, माँ, शासिका व कर्मयोगी का आदर्श व श्रेष्ठ चित्र समाज के सामने उन्होंने प्रभावी रूप में रखा। उन्होंने इस देश में ग्राम, नगर व तीर्थों को पवित्रता प्रदान की। मंदिरों व तीर्थ स्थानों को भारत के राष्ट्रीय व धार्मिक जीवन में पुनः गौरवपूर्ण स्थान पर अधिष्ठित कर व आक्रमणकारियों द्वारा तोड़ गये उत्तर भारत के मंदिरों का निर्माण कर उन्होंने हिन्दू धर्म की अविस्मरणीय सेवा की है। भारत के शिल्प व स्थापत्य, विविध कला व संस्कृति को उन्होंने अपूर्व संरक्षण प्रदान किया।

अपने अनेक सद्गुणों व मानवता को अर्पित अनेक अमूल्य निधियों के कारण विश्व इतिहास में देवी अहिल्या का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हो गया है। गया के विष्णु मंदिर तथा महेश्वर में स्थापित उनकी मूर्तियों की पूजा बड़ी श्रद्धापूर्वक की जाती है। इन्दौर में

स्थित विमान तल, विश्वविद्यालय, महाविद्यालय व ग्रंथालय भी उनके नाम पर है। उनका नाम तेजस्वी दीप स्तम्भ के समान सबका पथ प्रदर्शन करने की अपूर्व क्षमता रखता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

01. मतकर स.श. – इन्दौर का होल्कर राजवंश पृ. 6, इन्दौर, 1995
02. अहिल्या स्मारिका – पृ. 7, 1993, खासगी ट्रस्ट, इन्दौर
03. शर्मा हीरालाल – अहिल्या स्मारिका, पृ. 31, 1990, खासगी ट्रस्ट, इन्दौर
04. बेगड़ अमृतलाल – दिव्य रानी अहिल्याबाई पृ. 13, 14 जबलपुर, 1990
    शर्मा उदयभानु द्वारा लिखित लोकमाता अहिल्या तथा मतकर गणेश के व्यक्तिगत संकलन से उद्घृत
05. कानूनगो शोभा – उज्जयिनी का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 232, 1972
06. ठाकुर वी.वी. – होल्कर शाही का इतिहास, पृ. 57–60, 1944
07. खडपेकर विनया – देवी अहिल्याबाई होल्कर, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल

मध्यप्रदेश की बोलियाँ – सीमाएँ एवं संभावनाएँ

डॉ. कला जोशी
प्राध्यापक हिन्दी
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

मनुष्य द्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अपनाये गये साधन का दूसरा नाम ही भाषा है। इसके प्रति उसका सहज लगाव होता है, जो उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। भाषाविद डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया के शब्दों में – ''भाषा का ज्ञान बालक को जन्म के बाद अपने माता–पिता के सान्निध्य से एवं समाज के मध्य होता है।''

मानव संवेदनशील होने के कारण समाज–सापेक्ष है। समाज से परे रहकर वह मानव नहीं कहला सकता। भाषा, व्यक्ति को समाज के सूत्र में बांधती है। व्यक्ति और समाज का अभिन्न सम्बन्ध है, जिसके फलस्वरूप भाषा का भी सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के माध्यम से समाज से होता है। इसीलिए भाषाविदों द्वारा भाषा को यादृच्छिक ध्वनि–प्रतीकों की व्यवस्था माना गया है, जो समाज में परस्पर विचार विनिमय के लिए प्रयुक्त होती है। इस प्रकार भाषा को नितांत मानवीय विभूति और सामाजिक उपादान स्वीकार किया गया है।

भाषा, समाज की **व्यक्ति–बोलियों** का पारम्परिक सम्बन्ध एवं अन्तराल सापेक्षिक होता है। समाज निर्माण के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि उसकी संगठनात्मक इकाईयाँ परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हों। इन समस्त इकाईयों को जोड़ने में भाषा बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। प्रत्येक भाषा का एक मानक रूप होता है। इसका आधार वस्तुतः सामाजिक है। किसी भाषा के जिस रूप को उस भाषा का समाज मानक मानता है, वहीं भाषा का परिनिष्ठित रूप होता है। प्रत्येक भाषा समाज में पारिवारिक, सम्बोधनात्मक भावाभिव्यंजक, हास्य एवं व्यंग्य तथा अन्य लोक–संस्कृति द्योतक शब्दावली में कुछ शब्दों का विशिष्ट प्रयोग होता है। उस भाषा को समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक विशिष्टताओं की जानकारी के बिना इन शब्दों में अर्थवेत्ता को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता है।

प्रत्येक शब्द के अर्थ–परिवर्तन के पीछे कहीं न कहीं, किसी न किसी मात्रा में सामाजिक–परिवर्तन उत्तरदायी होता है। शब्द के अर्थ का अपकर्ष एवं उत्कर्ष उसके प्रयोगकर्ताओं की परिवर्तित सामाजिक स्थितियों एवं मान्यताओं के कारण ही होता है। इस प्रकार एक ओर सामाजिक व्यवस्था एवं परिवर्तन से भाषा प्रभावित होती है, तो दूसरी ओर भाषा का भी समाज पर प्रभाव पड़ता है। भाषा समाज नियंत्रण का एक साधन है।

भाषा और समाज की स्वतंत्र रूप से परिभाषा नहीं की जा सकती है, क्योंकि ये दोनों एक दूसरे से अनिवार्य रूप से जुड़े हुए हैं। भाषा एक सामाजिक वस्तु है, जिसकी प्रकृति में सामाजिक तत्व निहित रहते हैं।

सम्प्रेषण मूलतः एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसीलिए भाषा अपने व्यवहार में भाषा भी विषमरूपी होने के लिए बाध्य है। क्योंकि उसमें भाषा प्रयोग के अनेक विकल्पन (टंतपंजपवद) और भाषाभेद (क्पर्मिितमदजपंजपवद) मिलते हैं। भाषायी समाज ऐसे समाज को कहा जा सकता है, जिससे लोग वैचारिक अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति के ग्रहण के लिए एक ही भाषा के सूत्र में बंधे होते हैं।

समाज के पास अपनी अभिव्यक्ति के लिए जितने विचार हैं, उतने ही विचारों के प्रतीक भी हैं। ये प्रतीक ही भाषा के नाम से पहचाने गये हैं। सामाजिक व्यवहार और चिन्तन को इंगित करने में भाषा का रिश्ता है। भाषा समूचे सामाजिक परिसर की संस्कृ ति की वाटिका है। वह समग्र समाज की सम्पदा है, लेकिन उसके गठन और विकास में समाज की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

भाषा सामाजिक विकास का एक साधन है। किसी समाज की भाषा में बाह्य प्रभावों से कितना परिवर्तन होता है, यह उस प्रभाव की शक्ति पर निर्भर है, साथ ही समाज के गठन, उसके प्रतिरोध, उसके सदस्यों के भाषा प्रेम पर भी निर्भर है। संसार की भाषाओं में सम्पर्क बढ़े इसके लिए शब्दों का आदान–प्रदान जरूरी है। शब्दों का आदान–प्रदान कोई विशुद्ध चीज नहीं है। उसमें सांस्कृतिक मूल्य निहित होते हैं। आदान–प्रदान दोनों पक्षों के सामाजिक संबंधों पर निर्भर होता है। शब्द ऐसी भौतिक वस्तु नहीं है, जिनका अन्न, वस्त्र या रूपए–पैसों की तरह लगा दिया जाये और जब जरूरत पड़े तब उसमें से माल निकाल लिया जाये। शब्द को अपना बनाने का अर्थ है उसका व्यवहार कर सकना। उसे सीखने और उसका व्यवहार करने में मेहनत करनी पड़ती है। कुछ शब्दों का व्यवहार सरल होता है, कुछ का कठिन होता है। इसलिए महत्व इसी बात का नहीं है कि भाषा में शब्दों की

संख्या कितनी है। वे जिन विचारों के प्रतीक हैं, उन्हें वे सरलता से व्यक्त कर सकते हैं या नहीं और दूसरे शब्दों से उनकी पटरी बैठती है या नहीं। जो शब्द कठिन होते हैं, उनकी कठिनता से जनतंत्र विरोधी विशेषता उत्पन्न होती है। इनमें से बहुत से शब्द न व्यवहार में आते हैं, न समझे जाते हैं। उनका व्यवहार तो वही करते हैं जिन्हें क्लासिक भाषाओं की शिक्षा मिली हो। साधारण शब्द भंडार और इन शब्दों में आमतौर से कोई विचार संसर्ग नहीं रहता न स्मृति की सहायता करने के लिए धातु प्रत्ययों आदि में कोई समानता होती है। यहां वे अदृश्य सूत्र नहीं है जिनसे विभिन्न शब्द मानव–मन में गूंथ दिये जाते हैं। भाषा में इन शब्दों की बड़ी संख्या होने से वर्ग भेद उत्पन्न होते हैं, अथवा कहना चाहिए कि और बढ़ जाते हैं जिससे कि मनुष्य की संस्कृति का मूल्यांकन बहुत कुछ इस मानदंड के अनुसार होता है कि वह भाषण लेखन में कहाँ तक इन कठिन शब्दों का प्रयोग कर सकता है। यद्यपि मनुष्य का मूल्य आंकने के लिए यही सर्वोच्च मानदंड नहीं है। समाज में वर्ग पहले से ही होते हैं। भाषा में कठिन और अस्वाभिक शब्दों के प्रयोग से वे नहीं बनते किन्तु इन शब्दों को गढ़ने और उनका व्यवहार करने के बारे में वर्गों की अपनी नीति होती है। शिक्षित भाषायी समाज क्लासिक भाषा से शब्दों को ग्रहण करके, उपयोग करता है। लोग उस समाज को आदर देते हैं। ऐसा भी होता है कई शब्द निम्न स्थान के हकदार हो जाते हैं जैसे 'बाबू' शब्द लोकबोलियों में भी इतना लोकप्रिय हुआ कि अपने मूल अर्थ से निम्नता को प्राप्त हुआ। एक बोली समाज 'बाबू' शब्द को स्नेह से भी अभिसिंचित करता है। यह दो पृथक–पृथक मनोवृत्ति और संस्कृति की ओर इंगित करता है। अंग्रेजी से हिन्दी की राह पर चलता हुआ बोलियों में आया 'बाबू' शब्द एक काम से लदे–फदे, व्यक्ति की ओर इंगित करके 'बाबूगिरी' बन गया। आगे विकसित होकर वह मक्कार बाबू, घाव बाबू जैसे शब्दों से अपनी गरिमा गिरा बैठा। वहीं दूसरी ओर 'बाबू' शब्द अपने कोमल लहजे में मालवी में छोटे बालकों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। स्नेह से मंडित होकर 'बाबू' अपनत्व का बोध कराने लगा। यही विशेषता लोकबोलियों की शब्दों की क्षमता का दोहन करने की है। बोली समाज की यह आंतरिक स्थिति पर निर्भर है कि बाह्य समाज की भाषा उस पर किस तरह प्रभाव डालती है। ज, ख (काफ) ध्वनियाँ मध्यप्रदेश की बोलियों में प्रयुक्त नहीं होती। जनसाधारण फारसी–अरबी के ध्वनितंत्र को इतना पचा नहीं पाया। जहाँ तक शब्द–रचना का संबंध है, दार, खाना, बाज आदि कुछ तत्व प्रचलन में हैं। इनमें बाज के साथ घृणा सूचक भाव जुड़ गया। सम्मान सूचक शब्दों के साथ फारसी प्रत्ययों का व्यवहार

कम होता है। फ्रांसीसी का अधिक प्रभाव पड़ा है शब्द भंडार पर। फारसी स्वयं अरबी से प्रभावित थी। इसी कारण अरबी के बहुत से शब्द बोलियों में भी प्रचलित हो गये। इनमें संज्ञा, विशेषण, क्रिया विशेषण सभी तरह के शब्द हैं। आदमी, जानवर, इशारा, आसान, लेकिन, बिल्कुल, अगर, असल, अलबत्ता, बाद, आसामी, अस्तबल, अदालत, गल्ला, गुलाम, सलाह, तरह, तरीका, कफन बालिंग लायक जैसे काफी शब्द मध्यप्रदेश की बोलियों में प्रचलित हैं। इनमें कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके बोलियों के पास पर्यायवाची नहीं है। कुछ शब्द ऐसे है जिनका व्यवहार शहरों में होता है, गांवों में नहीं।

जब दो बोलियाँ टकराती है, तो एक भाषा इस टक्कर में जीत जाती है। वह अपनी व्याकरण व्यवस्था और मूल शब्द भंडार सुरक्षित रखती है और उन्हें अपने आंतरिक विकास में नियमों के अनुकूल सवंर्धित करती रहती है। दूसरी बोली क्रमशः अपना मूल्य खो देती है और धीरे–धीरे मर जाती है। कई बोलियों का लुप्त होते जाना इनका प्रमाण है। मध्यप्रदेश में कोरकू, बेगा, हल्बी आदि बोलियों का यही हश्र होता जा रहा है। मालवी, बुंदेली, बघेली, निमाड़ी बोलियां आज भी शब्दों के अतिक्रमण से अक्रान्त हैं। बोलियाँ जड़ इकाई होने की ओर अग्रसर हैं। उनकी प्रवहमान धारा अपने विकास नियमों का अनुपालन न करने के कारण अवरूद्ध होती जा रही है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्गभेद के उदय के बाद मध्यप्रदेश का आदिवासी समाज अपनी भूमि से वंचित किया जाने लगा। आदिवासियों की बोलियों से आधिजात्य समाज ने वृक्षों, झाड़ियों, सागपात, भोजन आदि के नाम ग्रहण किए, किन्तु सभ्य समाज उनकी बोली समझ ही नहीं पाया। उनके शब्द भंडार, रूपविकार, वाक्यरचना सब भिन्न हैं। भीली जब निमाड़ी के संपर्क में आई तो नई बोली 'भिलाली' क्रियोल के रूप में उभरकर आई। निमाड़ी से भीली ने शब्द लिए, उनका रूपविकार बदलकर एक नई बोली को जन्म दिया। यहाँ हुआ यह कि इस तरह से आदान–प्रदान से बोलियों को समृद्ध होना था किन्तु यह बराबरी के स्तर पर हुआ। भीली, निमाड़ी के साथ मालवी भी इस आदान–प्रदान से अछूती नहीं रही। आज के सामाजिक संबंध सहयोग एवं भाईचारे के आधार पर कायम हो रहे हैं इसलिये बोलियाँ हिन्दी और पाश्चात्य भाषाओं से अपने भंडार में इजाफा कर रही है, पर अपनी इस प्रवृत्ति से उनके मूल स्वरूप पर गंभीर संकट मंडरा रहा है। जिस बोली भाषा के मूल तत्वों की उसने प्राचीनकाल में सृष्टि कर ली थी। सभ्यता के इतिहास में मनुष्य ने जितनी भी भाषा सम्पत्ति अर्जित की है इससे अधिक चमत्कारी वह भाषा सम्पत्ति है जो

उसने सभ्यता के पूर्व अर्जित की थी। आदिम समाज की भाषा रचना का वही महत्व है जो मानव विकास के लिए आग के आविष्कार का है। सभ्य समाज के साहित्यकारों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का चिन्तन भाषा के उसी मूलाधार पर टिका है जिसका निर्माण प्रकृति से निरंतर युद्ध करते हुए आदिम समाज व्यवस्था के मानव ने किया था। सभ्यता के युग में मनुष्य ने शब्द रचना की, पुराने तत्वों के आधार पर नये शब्द गढ़े, बाहर से शब्द उधार लिए, अपने पुराने शब्दों को नया अर्थ दिया किन्तु उसने भाषा की सृष्टि नहीं की। आदिम मानव समाज ने भाषा की सृष्टि की, पशुजगत से भिन्न नये प्राकृतिक और सामाजिक संदर्भों में ध्वनि संकेतों का प्रयोग करना सीखा। उसने जिन मनुष्य ध्वनियों का उच्चारण करना सीखा था, वे आज तक चली आ रही है, उसने भाव प्रकृति के जो साँचे गढ़े थे, उनमें भाषा आज भी ढाली जा रही है। यदि किसी देश या समाज के लोग कर्ता पहले, क्रिया बाद में, मूल शब्द पहले, संबंधसूचक चिन्ह् बाद में विशेषण पहले विशेष्य बाद में रखने की राह पर चलते थे तो वह राह उस समाज के उत्तराधिकारी मानवों के उपचेतन में आज भी बनी हुई है। आदिम समाज व्यवस्था में ही मनुष्य ने धरती और आकाश के सैकड़ों पदार्थों का नामकरण किया। प्रकृति के रूपों का परिचय बढ़ाते हुए उनका नाम रखकर उसने ज्ञान को जन्म दिया, अनेक मानव संबंधों के लिए उसने ध्वनि संकेत निश्चित किये। पशु और मनुष्य कार्यों के लिए, अव्यवस्थाओं और परिस्थितियों के लिए, आहार–रक्षा–प्रजनन के लिए, श्रम, उसके संगठन, आयुघ निर्माण, उनके व्यवहार, श्रमफल विभाजन, तन ढकने, वर्षा–शीत आदि से रक्षार्थ, गृह निर्माण के लिए उसने हजारों ध्वनि संकेत निश्चित किये। भिन्न समाजों के संपर्क और संघर्ष से ये ध्वनि संकेत एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक फैले। प्रत्येक समाज ने अपनी आंतरिक क्षमता से उत्पन्न किए हुए शब्दों के अलावा दूसरे से प्राप्त या सीखे हुए ध्वनिसंकेतों का बराबर व्यवहार किया और इस तरह सभ्यता के आगमन के पहले उसने ध्वनि, व्याकरण और शब्द भंडार की दृष्टि से इतनी समृद्ध भाषा सम्पत्ति अर्जित कर ली थी कि उसके बाद का सारा भाषा विकास चमत्कार शून्य और एक अति साधारण मानव क्रिया जैसा लगता है।

आज भी प्रत्येक सभ्यदेश में ध्वनि की सघोष और अघोष रीति का अनुसरण किया जाता है। आज भी ध्वनि की गौण विशेषताएँ खत्म नहीं हुई है। आज भी श, स और ष के उच्चारण में भिन्नता को स्वीकृत किया जाता है। इन गौण विशेषताओं में बड़ी तरलता है। ध्वनि की जो विशेषता महत्वपूर्ण नहीं है उसका चाहे जैसा प्रयोग कीजिये, भाषा के व्यवहार

में कोई रूकावट नहीं पड़ती किन्तु ध्वनि की मुख्य विशेषताएँ स्पष्ट और निश्चित होना चाहिए। छोटे–छोटे समूहों में जब तक मानव विभक्त रहा, वह ध्वनि विशेषताओं में कोई मानदण्ड स्थिर नहीं कर सका लेकिन जब वह गणों, गणसंघों, लघुजातियों और महाजातियों में संगठित हुआ, तब उसे परिनिष्ठित भाषा की आवश्यकता पड़ी और ध्वनियों के स्पष्ट और निश्चित रूपों की ओर बढ़ा।

समाज की प्रत्येक अवस्था में भाषा उसकी संस्कृति को प्रतिबिंबित करती है। संस्कृति में परिवर्तन के साथ भाषा में भी परिवर्तन होता है। भाषा के कुछ तत्व बदलते हैं, उसमें आमूल परिवर्तन नहीं होता। भाषा किस स्तर की संस्कृति को प्रतिबिंबित करती है, यह उसके बोलने वालों की समाज व्यवस्था पर निर्भर है। भाषा में परिवर्तन धीरे–धीरे होता है। इस परिवर्तन की गति सदैव एक सी नहीं रहती। उन्नीसवीं–बींसवी सदी में नयी सामाजिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं के कारण देशी भाषाओं में बहुत से नये तत्सम शब्दों का प्रयोग होने लगा। इतने नये शब्दों का व्यवहार पिछले दो–चार सौ वर्षों में नहीं हुआ था। इस प्रकार आंतरिक और बाह्य दोनों ही तरह के कारणों में भाषा में परिवर्तन की गति तीव्रता पाती है। जब न किसी बाहर के देश से निकट सम्पर्क हो, न समाज की आंतरिक स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन हो, तब भाषा में भी परिवर्तन की गति अत्यंत धीमी होती है। किसी भी विशाल देश में हर दस या बारह कोष पर बोली बदलती जाती है, एक बोली कहाँ खत्म होती है, दूसरी कहाँ से शुरू होती है इसका अंदाजा लगाना कठिन है। भाषा का विकास दो स्तरों पर होता है। एक स्तर पर अन्य भाषाओं के तत्व मिलते हैं, शब्द भंडार बढ़ता है। भाषा के प्रयोग की परिधि विस्तृत होती है। यह भाषा का रूप संबंधी विकास है। दूसरी ओर सामाजिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप उसकी अभिव्यंजना क्षमता बदलती है, वह एक नये स्तर की संस्कृति को प्रतिबिंबित करती है। यह भाषा का विषयवस्तु संबंधी विकास है। दोनों ही तरह का विकास सामाजिक कारणों से होता है। बाह्य अंतर्विरोधों से रूप संबंधी परिवर्तन होते हैं, समाज के अपने अंतर्विरोधों से विषयवस्तु संबंधी परिवर्तन होते हैं। ये दोनों तरह के अंतर्विरोध परस्पर संबद्ध हैं, इसलिए भाषा का रूप संबंधी परिवर्तन उसकी अभिव्यंजना क्षमता से विलग नहीं होता। विकास की दोनों धाराएं कभी विच्छिन्न और कभी मिली हुई प्रवाहित होती है।

भारत के केन्द्र में बसा मध्यप्रदेश विभिन्न संस्कृतियों और बोलियों को सहेजे आज के साथ विकास के पथ पर अग्रसर हैं। मध्यप्रदेश की राजभाषा हिन्दी है। यहाँ की प्रमुख

बोलियाँ बुन्देली, बघेली, मालवी, निमाड़ी और आदिवासी बोलियाँ भीली, गोंडी, भिलाली और कोरकू भाषाई संक्रमण के दौर में हिन्दी के द्वारा विस्थापित होती जा रही हैं। आज इन बोलियाँ का प्रचुर लोक साहित्य होने के बाद भी नई पीढ़ी के लिए उसका कोई महत्व नहीं है। संचार क्रान्ति ने जब भाषाई दूरी पाटने की योजना बना ही ली है तो एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा से ही काम चलाना वैश्वीकरण की पहली शर्त बन गई है। इस एकभाषी दौड़ में हिन्दी बहुत पीछे हैं अभी तो वह संयुक्त राष्ट्रों की अधिकारिक भाषा भी नहीं बन पाई है। ऐसे समय में बोलियाँ कहाँ आकर ठहरती है, जो दृश्य उभरता है, उसमें बोलियों की कहीं जगह नहीं होगी। संसार की की कई बोलियाँ धीरे–धीरे विस्मृति की गर्त में जाकर लुप्त हो गई। शेष यही रह जाता है कि बोलियों का संरक्षण किया जाए। बोलियों का संवर्धन तो सम्भव नहीं किंतु भाषाई सर्वेक्षण से बोलियों की वर्तमान स्थिति उनके भाषाई भूगोल के आधार पर भाषा के रूपों को संरक्षित किया जा सकता है। बोली–व्यवहार का अभी जो परिदृश्य है भविष्य में वह भी नहीं रह जायेगा क्योंकि जब बोली के प्रयोक्ता नहीं रहेंगे तो बोली भी नहीं रहेगी। बोलने की क्रिया अप्रकृति सिद्ध, अर्जित एवं सांस्कृतिक व्यापार है। यह व्यापार तभी फलता–फूलता है जब बोली समाज का सम्पर्क बढ़े। संपर्क से बोली/भाषा का ज्ञान बढ़ता है। इस मानव सन्दर्भित व्यापार में मानव के सामाजिक प्राणी होने के नाते ही बोली/भाषा और समाज के बीच की कड़ी के रूप में बोली/भाषा, उसकी सत्ता की प्रतिष्ठा बनी रहती है। वस्तुतः मानव ही बोली/भाषा को समाज में सीखता है और उसका प्रयोग करता है। अतः उसकी बोली/भाषा उस समाज की व्यवस्था, मूल्य, परंपरा और संस्कृति से विकसित होती है और अपनी अलग पहचान बनाती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के वाक्व्यवहार का आधार बोली/भाषा ही है। व्यक्ति बोली/भाषा को समाज में रहकर सीखता है। जिन व्यक्तियें के बीच किसी बच्चे का पालन–पोषण होता है, उन्हीं की भाषा के आधार पर उस बच्चे की भाषा का निर्माण होता है। भाषा के द्वारा व्यक्ति अपने निजी व्यक्तित्व का विकास एवं उसकी अभिव्यक्ति करता है। प्रत्येक व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व का प्रभाव उसके अभिव्यक्ति व्यवहार पर पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति के अनुभवों, विचारों, आचरण–पद्धतियों, जीवन व्यवहारों एवं कार्यकलापों की निजी विशेषताएँ होती हैं। समाज के सदस्यों के व्यक्तित्व की सूक्ष्मतम भिन्नताओं का प्रभाव उनकी व्यक्ति भाषाओं पर पड़ता है और इस कारण प्रत्येक बोली में निजी भिन्नताएँ अवश्य होती है। मध्यप्रदेश की बोलियाँ भी अपनी–अपनी निजी भिन्नताएँ लिए अपनी विशिष्ट

पहचान रखती हैं। बुन्देलखंड में बुन्देली, बघेलखंड में बघेली, मालवा में मालवी, और निमाड़ में निमाड़ी। इन बोलियों का भाषाई समाज गाँवों में बसता है। अभी गाँव से बाहर आकर ये शहरों तक पहुँची थी किंतु अब शहर का व्यक्ति अपनी भाषा का व्यवहार शहरी समाज के मध्य करता है। इस शहरी समाज में विविध क्षेत्रों के लोग होते हैं, अतः आवश्यक नहीं कि सबकी बोली एक ही हो। शहरी समाज की सम्पर्क भाषा हिन्दी है। यदि दो एक ही बोली बोलने वाले व्यक्ति आपस में संवाद करते हैं तो भी उसमें हिन्दी के शब्द अनायास आ जाते हैं। शुद्ध बोली के प्रयोक्ता शहरों में नहीं के बराबर हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों में बोली क्षेत्रों में सर्वेक्षण अत्यंत कठिन कार्य है। फिर भी शोधसंधत्सु ने विभिन्न गाँवों में जाकर वार्तालाप एवं साक्षात्कार के द्वारा ध्वनियों, शब्दों का संकलन किया। केवल संवाद ही एकमात्र सबल पक्ष रहा, इस सर्वेक्षण का। आज मध्यप्रदेश की बोलियाँ, हिन्दी भाषा एवं पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से अपना वजूद खोती जा रही है। क्षेत्र विशेष तक सीमित न रह कर बोलियाँ अपनी विशेषताएँ दूसरी बोलियों की विशेषताओं में घुल–मिलकर एकाकार हो रही हैं। मालवी और निमाड़ी के शब्दों की एक–दूसरे में घुसपैठ को कोई रोक नहीं सकता, इससे शब्दों की उत्पत्ति में भ्रम होने लगता है। आज एक भी ऐसा मालवी या निमाड़ी का प्रयोक्ता नहीं मिलेगा जो शुद्ध मालवी या शुद्ध निमाड़ी में बोल सके।

मालवी एवं निमाड़ी एक ही भाषा परिवार की बोलियाँ है। ग्रियर्सन ने तो निमाड़ी को उपबोली की श्रेणी में रखा है। बुन्देली की जड़ें बहुत गहरी हैं। हिन्दी साहित्य उसका ऋणी हैं। बुन्देलखंड का वृहद् विस्तार है। मध्यप्रदेश के बाहर भी बोली जाती है। इस कारण बुन्देली भाषा पर शोध कार्य उपलब्ध है। बघेली एक छोटे भू–भाग की बोली है। अपने सीमित क्षेत्र के कारण उसके ध्वनि चिन्हों एवं व्याकरणिक रूपों में विशेष अन्तर नहीं आया है। बघेली के लोक साहित्य पर श्रीचन्द जैन ने शोध कार्य किया है। जनपदीय बोलियों को महत्व देने के कारण सरकारी प्रयासों से बुन्देली, बघेली, मालवी का व्याकरण लिखा गया। बुन्देली लोक साहित्य के संबंध में बनारसीदास चतुर्वेदी, और कृष्णानन्द गुप्त ने शोधकार्य किया है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से डॉ. महेशचंद्र अग्रवाल एवं डॉ. आरती दुबे ने शोध किया है। आदिवासी भाषा समूह में भीली पर डॉ. नेमीचंद ने स्तुत्य कार्य किया है। नेमीचंद जैन ने भीली को आर्यभाषा परिवार की एक बोली मानकर शोधकार्य किया है। मध्यप्रदेश की सभी बोलियाँ आज जिस स्थिति से गुजर रही है कि उनकी ध्वनियों में

परिवर्तन होते जा रहे हैं। पूर्ववर्ती सभी शोधकार्य ग्रियर्सन के भाषाई सर्वेक्षण से प्रभावित हैं तबसे लेकर अब तक भाषा का प्रयोक्ता समाज बहुत बदल गया। बहुभाषी संस्कृति में शब्दों की आवा–जाही में बोलियों का मूलरूप सुरक्षित नहीं रह पाया। हिन्दी से प्रभावित होकर दैनिक जीवन व्यापार के शब्द हर क्षेत्र में प्रायः एक से व्यवहार में लाए जा रहे हैं ऐसे में ध्वनि रूपों, क्रियाओं आदि को कैसे विलगाया जा सकता है। जैसे– 'रिया' सहायक क्रिया का प्रयोग मालवी, निमाड़ी, बुन्देली प्रभावित भोपाली, भीली, भिलाली में देखा जा सकता है। जीवन–यापन की कठिनाईयों ने बुन्देलखंड के व्यक्ति को मालवा या निमाड़ और निमाड़ के व्यक्ति को बुन्देलखंड या अन्य जगह पहुँचा दिया है। इस स्थिति में कई शब्दों की अदला–बदली बोलियों को संक्रमित कर रही है। बोलियों पर सर्वाधिक प्रभाव शब्द समूह से ही पड़ता है। मध्यप्रदेश की सभी बोलियों का हिन्दी से अधिक सम्पर्क होने के कारण इनमें उसके इतने अधिक शब्द हैं कि उनका लेखा–जोखा रखना कठिन हैं। मध्यप्रदेश की सभी बोलियों के ध्वनिरूपों, व्याकरणिक स्वरूप, शब्द समूहों का समेकित सर्वेक्षण, संकलन, विश्लेषण भाषायी आयाम को नई दिशा देगा। बोली/भाषा को वास्तविक इकाई वाक्य होती हैं। वाक्य से विचारों की अभिव्यक्ति होती है। वाक्यों का तुलनात्मक प्रयोग बोलियों में सम्प्रेषण और संपर्क को प्रभावी एवं सार्थक कर सकता है। इन वाक्यों के संकलन से शब्दों का प्रयोग एवं क्रियारूपों का अध्ययन बोलियों के संरक्षण को सकारात्मक दिशा की ओर अग्रसर कर सकता है। वैश्वीकरण के कारण जब विश्व की सभी बोलियाँ लुप्त होती जा रही है तब सार्थक प्रयास यही हो सकता है, कि बची–खुची बोलियों के स्वरूप को सुरक्षित रखने हेतु परियोजना बनाई जाए। समय के प्रवाह में जब बोलियों का रूप संकर हो जाएगा, तब संकलित, संग्रहित रूप कोई दूसरा ही हो जाएगा। जिस प्रकार आज मूल भीली का रूप सुरक्षित नहीं रह गया है। मूल भीली जिसकी उत्पत्ति मुंडा परिवार से मानी जा सकती थी। जिसमें द्रविड़ परिवार की ध्वनियाँ अभी तक उपस्थिति है उसे आर्यभाषाओं ने इस तरह प्रभावित किया कि नेमीचंद जैन ने उसे आर्यभाषा परिवार की बोली मानकर 'अघुना भीली' नाम दिया। यद्यपि उन्होंने स्वीकार किया कि मूल भीली आज लुप्त हो चुकी है। निमाड़ी और मालवी की भी आज यही स्थिति हैं। मालवी जिसे अवन्तिजा भी माना गया है, सातवीं शताब्दी से प्रचलित है। उसका प्रयोग हिन्दी से भी पहले साहित्य में मिलता है। आज उसे हिन्दी की एक बोली माना जा रहा है। पैशाची या भूतभाषा से उद्भूत मालवी का वैभव निश्चित ही रहा होगा। आज वह हिन्दी के शब्दों से स्वयं का

शब्द भण्डार भरती जा रही है, आज वह न तो पूर्ण मालवी रह गई है न पूर्ण हिन्दी हो सकी है। मालवा के सुदूर गाँवों में भी मालवी के कई–कई रूप प्रचलित हैं। श्यामपुर, मन्दसौर, नीमच, रामपुरा, भानपुरा का सीमांत राजस्थान को स्पर्श करता है। वहाँ की मालवी राजस्थानी से प्रभावित है। कई भाषाविदों ने उसे राजस्थानी की उपबोली भी कहा हैं। निमाड़ी भी राजस्थानी प्रभावित है। बोलियों का यह मिश्रण क्रियोल को जन्म देता है। मध्यप्रदेश में भिलाली इसी प्रकार की बोली है। भीली और निमाड़ी के ध्वनिरूपों, शब्दों के पिजन रूप से भिलाली क्रियोल का निर्माण हुआ। अब यह भिलाली निमाड़ क्षेत्र के भीली बहुल गाँवों में बोली जाती है। आज से लगभग सौ साल पहले तक भिलाली का कोई अस्तित्व नहीं था मगर आज प्रचलन में वह 'भीली' से आगे हैं।

बुन्देली और बघेली का सीमाक्षेत्र लगा हुआ है। बुन्देली अपने समय की बहुत सम्पन्न बोली रही हैं। बुन्देली का लोकसाहित्य और भक्ति साहित्य उसके वैभव का दस्तावेज हैं। मध्यप्रदेश के बहुत बड़े भाग के साथ उत्तरप्रदेश के क्षेत्रों में भी बोली जाने वाली इस बोली में शोध कार्य भी हुए। बुन्देली और बघेली ने एक दूसरी को प्रभावित तो किया किंतु दोनों अपना स्वतन्त्र विकास भी करती रहीं। स्वतन्त्रता के बाद जब मध्यप्रदेश में हिन्दी का वर्चस्व हुआ, तब सीमांत क्षेत्रों की बोलियों में हिन्दी शब्द समूह का प्रवेश हुआ। बुन्देली भी इससे अछूती नहीं रही। वैसे भी राज–काज, प्रशासनिक कार्य, अध्ययन–अध्यापन में हिन्दी ही माध्यम रही अततः बुन्देली का व्यवहार स्वतः ही कम होता चला गया। आवागमन के सहज साधनों ने जब दूरियों को पाट दिया तब शब्दों ने भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की यात्रा की, कोई शब्द वही ठहर गया कोई प्रवासी हो गया। शब्दों की इस आवा–जाही ने मध्यप्रदेश की किसी भी बोली का वाक्–व्यवहार शुद्ध नहीं रहने दिया। शोध संघत्सु ने बहुत प्रयास किया कि सुदूर बसे गाँवों के अधिक से अधिक जनपदों से लोगों का आपसी संवाद संकलित–संग्रहित किया जाए मगर अस्सी गाँवों से ही संवादों का संकलन हो पाया। लक्ष्य रखा गया था हर बोली क्षेत्र के बीस गाँवों को आधार मानकर कार्य किया जाए। बुन्देलखंड और भीली क्षेत्र के अधिक से अधिक संवाद संकलन किया गया। भील क्षेत्र में भीली जानकार (सूत्रक) की भी मदद ली गई। दुर्गम पहाड़ियों के बीच अबारों–टापरों में बसे भीलों से वात्प्रलाप करना अत्यंत दुष्कर कार्य लगा। भीलों को तो सदा ही लगता रहा कोई सरकारी योजना लेकर अधिकारी आ गया है। उनकी उत्सुक निगाहें, शर्माती भीलनी, फलाँगते बच्चे, टेरते–टोहते जानवर अनकहा कहना चाहते। समय

की मार सहते भीलों और उनकी भाषा का विकास दिवास्वप्न ही तो है। इतनी प्राकृत आदिम संस्कृति और आदिवासी भाषा समूह की बोली भीली मध्यप्रदेश में अलग–थलग, अपने भाषाई समाज की तरह उपेक्षित होकर पड़ी है। मालवा और निमाड़ के नगरीय एवं कस्बाई क्षेत्रों में बसे भील पारंपरिक भीली का प्रयोग कम ही करते हैं। शिक्षा का माध्यम हिन्दी होने के कारण भावी पीढ़ी के द्वारा इसे विस्मृत कर देने की सम्भावना बलवती हो चली थी। अब शासन ने आदिवासी बालकों को देवनागरी लिपि के माध्यम से उनकी ही बोली में शिक्षित करने की नीति को कार्यरूप दिया गया है। इससे यह प्रबल सम्भावना है कि भीली बोली का संरक्षण होगा। इससे एक लाभ यह भी होगा कि आदिवासियों के मौखिक साहित्य को लिपिबद्ध किया जा सकेगा। भीली साहित्य भीलों के जीवन से सम्बद्ध है, जिनमें उनके कृषि–कार्य, खेत–खलिहान, प्रणय–प्रसंग, सुख–दुःख आदि का मर्मस्पर्शी वर्णन है, जो अंतस को छू लेने वाला सजीव है। अकृत्रिम होने के नाते स्वाभाविकता से सराबोर भीली काव्य कण्ठस्थ रहकर भी अत्यधिक प्रभावशाली हैं। कुछ पढ़ा–लिखा तबका इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, किंतु अटल में पैठकर परखा जाए तो असीम आनन्द की उपलब्धि होती है। भीली बोली में भरपूर साहित्यिक सुषमा–सौष्ठव समाविष्ट है। समय की मार एवं पर्यावरणीय स्थितियों ने उसे रोजी–रोटी के लिए अपने मूल स्थान से विस्थापित कर दिया है। वह गुजरात एवं मध्यप्रदेश के शहरेां में रोजी की तलाश में भटकते–भटकते अपनी मूल भाषा और संस्कृति को खोता जा रहा है। उनके बच्चे शहरी परिवेश में न तो पेट भर अन्न पाते हैं न ही शिक्षा का क ख ग सीख पाते हैं। अपनी बोली भी महज काम चलाने के लिए अपना पाते वे बच्चे शहर की भाषा का घालमेल अपनी बोली में करते जा रहे हैं। यही बच्चे बड़े होकर भीली को बिसरा कर शहर में मजूदरी करके जीवन गुजार देते हैं। एक बोली का लुप्त होता उस बोली समाज का भी समाप्त होना हैं। आज भीली की स्थिति अत्यंत खराब है उसका शिक्षित भीली समाज शहरों में रहकर अपने परिवेश से कटता जा रहा है। अब भीली का केवल संरक्षण ही किया जा सकता है। इन्टरनेट और सोशल मीडिया के जगत् में भारत की सभी बोलियों से समृद्ध होती हिन्दी अपना स्थान बनाती जा रही है यद्यपि यह हिन्दी मानक हिन्दी से अलग है किन्तु इसमें जो नया रूप हैं वह सहज और सम्प्रेषणीय है। इसने बोलियों के आम और रूढ़ शब्दों को अनुकूलन किया हैं। इससे बोलियों को क्षेत्रीय स्वायत्तता भी समाप्त होती जा रही है। सोशल मीडिया जब से सक्रिय हुआ है तब से बोलियाँ की स्थिति ओर बुरी हो गई है। सोशल मीडिया पर

हिन्दी का इस्तेमाल तो किया जा रहा है किंतु बोलियाँ यहाँ कहीं नहीं हैं। इन्टरनेट की शुरूआत भारत से बाहर हुई है किंतु ज्ञान के संचार और सूचना का संजाल देश की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। गूगल ने हिन्दी ट्रांसलिटरेशन की शुरूआत की। देश के नौ राज्य हिन्दी भाषा है, अतः फेसबुक, ट्यूटर समेत सभी सोशल मीडिया मंचों ने हिन्दी संस्करण पेश किए। हिन्दी इन्टरनेट पर भी भारतीयों में लोकप्रिय है। वैसे यह हिन्दी विविधता और बहुलता मूलक रही है, उसके विविध रूप अवधी, ब्रज, बुन्देली, मालवी, भोजपुरी, हिन्दुस्तानी आदि ने ही, उसे ऊर्जावान् बनाया है। ये बोलियाँ हिन्दी साहित्य की जड़ें हैं। हिन्दी एक बोलीबहुल भाषा है। ग्रहणशील भाषा होने के कारण उसने बोलियों और भाषाओं के शब्दों से अपने को समृद्ध किया है। इसी कारण सोशल मीडिया पर हिन्दी अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करा रही है। बोलियाँ अपने शब्दों से हिन्दी को समृद्ध तो कर रही हैं, पर स्वयं अनुपस्थित होती जा रही है। बोली/भाषा का सीधा संबंध उसका प्रयोग करने वाले समाज की स्मृति से होता है। बोली/भाषा समाज का जीवन्त प्रतीक बन जाती है। वह उसके प्रयोक्ता समाज की पहचान होती है। बुन्देली, बघेली, मालवी आदि शब्द मात्र बोली को ही नहीं व्यक्त करते। वे जातिबोधक शब्द के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। बोली/भाषा का प्रश्न भूमि और संस्कृति से जुड़ा होता है। बोलियाँ/भाषाएँ मनुष्य जाति की सांस्कृतिक धरोहर होती हैं। इस सांस्कृतिक धरोहर को सहेजने वाली बोलियों का संरक्षण युगीन आवश्यकता है। बोलियों का मौखिक लोक साहित्य तो लिपिबद्ध किया गया है किंतु उनकी भाषाई संरचना उनकी ऐतिहासिकता को जीवन्त रखेगी क्योंकि लिखित रूप दूर तक, देर तक प्रभावी होते हैं। किसी कवि ने लिखा है –

बोला हुआ शब्द, भूला हुआ शब्द हो जाता है।
किंतु लिखा हुआ शब्द, पत्थर की लकीर होता है।
अमर हो जाता है, दूर तक जाता है।

लिखित शब्दों की यही शक्ति बोलियों के 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' के पीछे छुपा संकल्प है। बोलियों का समवेत भाषावैज्ञानिक अध्ययन मध्यप्रदेश के सांस्कृतिक एवं भाषाई परिदृश्य को नया आयाम देगा।

मुगल कालीन मुद्रा और टकसाल व्यवस्था

डॉ. गीता चौधरी
प्राध्यापक (इतिहास)
शासकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, महू

भारत में प्राग ऐतिहासिक काल में मुद्राओं का प्रयोग नहीं होता था और व्यापार वस्तुओं के अदल–बदल से चलता था।

सबसे पहले नाम और चित्र अंकित कर सुन्दर सिक्के चलाने का श्रेय वैक्टिूयन ग्रीको को है उनके अधिकांश सिक्के सोने और ताँबे के हैं और कुछ सिक्के चाँदी के भी मिले हैं। गुप्ता सम्राटों के सिक्के बहुत ही परिशकृत और सुन्दर हैं और प्रारंभिक भारतीय मुद्रा प्रणाली में उच्च प्रगति के द्योतक हैं। बारहवीं सदी में चौहानों के सिक्के राजस्थान में और दिल्ली के आसपास के प्रदेशों में प्रचलित थे, सिक्के ट्रम्स कहलाते थे।

इल्तुतमिश का भाासन काल भारतीय मुद्रा प्रणाली के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण है और चाँदी के टंकों और मिलावटदार जितल उसके अपने बाद के सुल्तानों की मुद्रा प्रणालियों के आधार बन गये।1 प्रथम मुगल शासक बाबर ने 1529 ई. में आगरा की टकसाल से चाँदी और ताँबे के सिक्के चलाए थे, उसके चाँदी के सिक्के वजन और रूप रेखा में मध्य एशिया में चलने वाले दिरहम की तरह थे।

मुगल के अंतर्गत होने वाले विकास के स्वरूप के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस काल में कुछ विशेषताएँ अवश्य रही होंगी। नगरों के विकास तथा आकार में वृद्धि के कई कारण थे। जैसे काश्तकारों का काश्त छोड़कर नगरों की ओर पलायन यह प्रक्रिया काश्तकारों के दरिद्र हो जाने तथा काश्तकारों पर राज्य की मांग का दबाव बढ़ जाने के कारण ही घटित हुई। काश्तकार नगरों के बेहतर रहन–सहन की परिस्थितियों व नगद वेतन आदि की व्यवस्था से भी आकर्शित हुए।2

दूसरी मुख्य विशिष्टता यह थी कि उस काल में मुगल शहजादों तथा उमरा वर्ग के वाणिज्य वृत्ति की प्रवृत्ति बड़ा दी। सत्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय तथा फारसी ग्रंथों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अमीरों तथा शाही परिवार के सदस्यों जिनमें बादशाह, शहजादों, शहजादियों व हरम की अन्य महिलाएँ शामिल थीं, व्यापारिक क्रिया कलापों से जुड़े थे। शहाजहां के अपने निजी जहाज थे जो सूरत तथा लाल सागर के

मध्य चलते थे। शहजादी जहांआरा के भी अपने निजी जहाज थे जिनसे डचों तथा अंग्रेजों के जहाजों को माल पहुंचाने का कार्य किया जाता था। इस प्रकार यद्यपि उमरा वर्ग तथा राज्य की आय का मुख्य स्त्रोत अभी भी भू–उत्पादन ही था किन्तु वाणिज्य भी इनकी आय का एक मुख्य साधन बन गया था।3

मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था का विकास भी मुगलों की राजस्व नीति का ही परिणाम थी। अकबर के काल से ही का तकारों के उत्पादन का अधिकांश भाग नगद ही वसूल किया जाता था। इस प्रवृत्ति के कारण ही नगद मुकौती या नगदी अभिबंद संभव हो पाया। इस कारण मुद्रा चलन की व्यापकता तथा मात्रा का अनुमान लगाना कठिन है। किन्तु विलियम हॉकिन्स के विवरण के अनुसर जहांगीर के शासन काल के आरंभिक वर्शों में लगभग 250 करोड़ रूपए चलन में थे। अबुल फजल ने अपनी कृति आइने–अकबरी में साम्राज्य की अनुमानित आय 90 करोड़ आंकी है। किन्तु चाँदी के मूल्य में गिरावट तथा दक्कीन राज्यों में मुगल साम्राज्य में विलय के पश्चात् सत्रहवीं सदी के अंत में कुल हासिल वास्तविक आय का परिणाम 2040 करोड़ रूपए तक पहुंच गया। यह कहना अतिश्योक्ति पूर्ण नहीं होगा कि मुगल साम्राज्य तत्कालीन समय में विश्व के ऐसे देशों में से एक था जहां की मुद्रा व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती थी। यहां पर तीन प्रकार की धातु सोने की मुहर, चाँदी का रूपया एवं तांबे का दामा के सिक्के चलन में थे जिनकी एक रूपता तथा शुद्धता सराहनीय है। चांदी का सिक्का रूपया इस व्यवस्था का आधार था।

अकबर के काल में ही एक सुविकसित मद्रा प्रणाली की स्थापना हुई इस प्रणाली का मुख्य आधर रूपया था जिसका वजन 118 भरी डेढ़ रत्ती का एक वजन था। अकबर के उत्तराधिकारियों द्वारा भी इस वजन के सिक्के ढलवाए। जहांगीर ने कुछ समय तक चांदी के अतिरिक्त अन्य धातुओं व अधिक वजन के सिक्कों का भी प्रचलन किया था। अंततः औरंगजेब के अंतर्गत पहले के समान ही वजन का रूपया जारी किया गया केवल उसकी मात्रा में 2 रत्ती की वृद्धि की गई।4

मुगलों की मुद्राओं का प्रचलन राज्य द्वारा नियंत्रित टकसालों के माध्यम से किया जाता था। ये टकसाल पूरे साम्राज्य में स्थित थी। अब्दुल फजल के अनुसार 1595 ई. में लगभग 42 टकसालों में तांबे के सिक्के की ढलाई की गई। 14 टकसालों में चांदी का रूपया एवं 4 टकसालों में सोने की मुहरें ढाली गई। औरंगजेब के काल में रूपयों की ढलाई के परिणाम में वृद्धि हुई जिसका कारण मुख्यतः साम्राज्य के आकार में वृद्धि था।

साथ ही इस काल में टकसालों की मात्रा में भी वृद्धि हुई। इरफान हबीब के अनुसार पूरी शताब्दी रूपए के वजन में एकरूपता बनाये रखने का श्रेय मुगल प्रशासन को ही जाता है। यह प्रशासन की उल्लेखनीय उपलब्धि थी। मुगल साम्राज्य कालीन टकसालों केन्द्रीय नियंत्रण के अंतर्गत होते हुए भी ढलाई के क्षेत्र में इस हद तक स्वतंत्र थीं कि कोई भी व्यक्ति वहां चांदी ले जाकर सिक्के ढलवा सकता था। सिक्के ढलवाने का भुल्क ढाले हुए सिक्कों का लगभग 5.6 प्रतिशत होता था। सोने तथा तांबे के सिक्के ढलवाने के संबंध में यही कानून लागू होते थे। मुद्राओं पर, पुराने होने की स्थिति में कुछ कटौती भी होती थी। प्रत्येक सिक्के पर टकसाल का नाम था ढलाई का वर्ष अंकित होता था। अगर सिक्का ताजा या नया ढला हुआ होता था तो उसका पूरा मूल्य मिलता था जबकि चालानी सिक्के का चलन था। प्रयोग में आ रहे सिक्कों में आंशिक कटौती की जाती थी। पूर्ववर्ती शासन काल के दौरान ढले हुए सिक्कों पर जो खजाना कहे जाते थे, कटौती की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक थी। कटौती की मात्रा ढलाई भुल्क से अधिक नहीं होती थी।5

भारतीय मुद्रा प्रणाली के इतिहास में शेरशाह का राज्य काल बहुत ही महत्वपूर्ण है। उसने मिली जुली धातुओं के सिक्के खत्म कर अने चांदी के रूपये को भाज्य मुद्रा बनाया। उसने सोने के सिक्के भी चलवाए, लेकिन बहुत कम। उसने तांबे का पैसा चलाया। यह छोटी–मोटी खरीद में काम आता था। शेरशाह ने रूपए के आधे चौथाई, आठवें और सोलहवें भाग के सिक्के भी चलाए।6

अकबर ने 1556 ई. में अपने सिंहासनारोहण पर शेरशाह की ही मुद्रा प्रणाली अपनायी। इन सिक्कों पर उसका अपना नाम, उपाधियां और अभिलेख अंकित रहते थे। अकबर ने जो पहला सोने का सिक्का चलाया वह मुहर नाम से प्रसिद्ध हुआ। अकबर की बहुत ही कम प्राप्त मेहराबी सोने की मुहरें आगरे की टकसालों से जारी की गयी थी। अकबर ने टकसालों की व्यवस्था और मुद्रा प्रणाली में सुधार के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाए। उसने अपने अर्थविदों मुजफ्फर खां, टोडरमल और भााह मनसूर से विचार विमर्श कर यह निर्णय लिया कि चोखरियों के हाथों से टकसालों को लेकर उन्हें राज्य के उच्च अधिकारियों की देखरेख में रख दिया जाए। सुप्रसिद्ध चित्रकार ख्वाजा अब्दुल स्मद को टकसालों का निर्देशक नियुक्त कर दिया गया और उसे ही यह कार्य सौंप दिया गय कि वह टकसालों संबंधी नीति निर्धारित करे और उनकी कार्यप्रणाली की देखरेख करे। इस

प्रकार अकबर ने मुगल मुद्रा प्रणाली को सुधारों द्वारा इतना श्रेष्ठतम बना दिया कि उसके उत्तराधिकारियों ने भी उसे यथावत अपना लिया।

इसका प्रकार मुगल भारत में एक ऐसी अर्थव्यवस्था का विकास हुआ जो मुद्रा पर आधरित थी, जिसमें हुण्डी, बीमा, बैंकिंग आदि सभी विकसित वाणिज्य पद्धतियां विद्यमान थीं किन्तु इन सब विशिष्टताओं के बावजूद भी भारत में पूंजीवादी का विकास नहीं हो पाया, जिसका कारण यह था कि यद्यपि बैंकिंग व्यवस्था का विकास वाणिज्य की व्यापकता के अनुरूप हुआ था किन्तु यह वाणिज्य अपरिवर्तित हस्तशिल्प उत्पादन पर आधारित था। बैंकर की पूंजी का उत्पादन की प्रक्रिया पर कोई नियंत्रण नहीं था। इस प्रकार वित्तीय संगठन की सुविकसित प्रणाली का उत्पादन तकनीक के विकास से किसी प्रकार का संबंध नहीं था।

1. अकबर महान बी.एन. लुनिया पृ. 605
2. अकबर महान बी.एन. लुनिया पृ. 586
3. मुगल भाासन पद्धति जदुनाथ सरकार पृ. 425
4. मुगल भाासन पद्धति जदुनाथ सरकार पृ. 449
5. अकबर महान बी.एन. लुनिया पृ. 586
6. अकबर महान बी.एन. लुनिया पृ. 587

Role of Environmental Ethics in Islamic Perspective

Tanveer Hussain Rather
(Research scholar)
Department of Philosophy
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt Arts and commerce collage
Indore (M.P.)

Environment is the surrounding or conditions in which a person, animal or plant lives. In the broader view sun, moon, sea, earth, forest and desert etc together make an environment for the existence of man and all living beings. The educational institutions, in order to improve the environmental education, need to identify the factors that are influencing the voluntary behavior, thus, study on the determinants of behavior consistent with the natural environment becomes necessary. Islamic perspective on environmental ethics in the light of Quranic verses and Islamic narrations, meaning and value of life, particularly humankind's relationship with the Creator and its interaction with the rest of humanity, the world and its creatures.

Key points: environmental education, Islamic perspective, environmental conservation.

Introduction

Environment accurately means surrounding and the whole thing that effect a being during the life time is together known as its environment. Environment stands for surrounding. Environment has been defined 'the sum total of all conditions and influences that affect the development of organism'. This definition stressed of all totality of environment, implying that every organism including human beings has its own environment.

The environmental concept in Islam, in the environment is a broad concept, it includes climate and its components, plants, animals, sand, human beings and all things found on the ground or in the atmosphere. The concept of the environment in Islam is a comprehensive concept that includes earth, sky, and mountain with all creature, in addition to human and their motivations, emotions and instincts. These entire creature were created to service the people, therefore the people are responsible for maintaining and conserving the environment.

The importance of environment in Islam extends to every environmental aspect. Maintaining the environment has a specific place in the Islamic thought. The Islamic world view is based on the belief in the existence of an all powerful creator who is the same god of the other monotheistic faiths, Muslim learns from the Quran that god created the universe and

every single atom and molecule it contains and the laws of creation include the elements of order, balance and proportion: "he created everything and determined it most exactly" (25:2). Allah created everything in balance, utilizing natural resources in the wrong way can harm this balance .Allah Said in Quran: 'He created man and taught him clean expression, the sun and the moon about sun with precision. The stars and trees bow down in prostration; he created heaven and established the balance so that you would not transgress the balance. Give just weight do not skimp the balance, 'He laid out the earth for all living craters' (Al-Rehman 3-9). This passage indicates that Allah created everything in balance. The abuse of natural resources can harm the balance of the environment. For example, environmental phenomena such as global warming and climate change are the result of the environment. According to Islamic thought, life is a complementary system, this system incorporates a number of interactions between its parts; these interactions can be affected by the destruction of the environment, which can have negative effects on the overall system, by maintaining the balance of natural resources, people can avoid environmental problems, which are unpredictable and protect themselves.

In other words environment is some total of water air and land interrelationships among themselves and also with the human being, other living organisms and property. Therefore, peoples have sheltered the environment. Environment resource comes in different forms such as water, plants, animals, birds, places, air and sea, among others. Utilizing these resources is the right of all creations. The right to benefit from the environment is linked to creature accountable to it, as people are the only rational creatures on earth.

Current environmental crisis cannot be compared with any other problem in the world from the beginning of history to the present time. Undoubtedly, the contemporary environmental crisis is the result of incorrect education and practical ignorance of human and it is one of the most serious challenges ahead. However, human behavior practically shows that we're beyond nature and we tend to focus on consumption. Achieving environmental goals only through international commitments is impossible because commitment is of innate nature. For proper utilization of environment, human has to enact laws that look at the nature not only to be consumed but to sustain life in the 21st century. Human must adjust its behavior to stability of nature to maintain environmental values and change its performance by making changes in its intellectual and belief principals. For this, environmental training requires factors that influence voluntary behavior change. Therefore, learning about the determinants of behavior consistent with the nature of the treatment becomes necessary. The educational institutions, in order to improve the environmental education, need to identify the

factors that are influencing the voluntary behavior, thus, research on the determinants of behavior consistent with the natural environment becomes essential.

What exacerbates environmental crises is the lack of environmental education and training and more serious than it is the lack of attention to correct environmental education and attitudes. Much of this turmoil refers to the type of the training that forms people's understanding and belief about his surrounding environment so, nowadays, everyone agrees that education is most effective tool and method to deal with future challenges, particularly environmental challenges and achieving the objectives of this type of training leads to the proper use of resources and guarantees sustainable development.

Environmental ethics is the discipline in philosophy that studies the moral relationship of human beings to the environment and its nonhuman contents. It starts with inter-human concerns for a quality environment and ends up with man's relation to animals, plants, species and ecosystems. Islamic environmental ethics is based on legal foundations which Muslims hold to be formulated by God and is termed as the sources of Shariah; i.e. Quran, Hadith and Fiqah. These legal instructions have been revealed in such a way that the conscience approves and acknowledges them to be correct. Thus the law itself becomes a part of human conscience, thereby guaranteeing its application and its success. According to Islam environment, environment is God's creation and to protect it is to preserve its values as a sign of the Creator. According to a tradition, Prophet Muhammad taught that "all creatures are like a family of God; and He loves the most those who are the most beneficent to His family." Man's uniqueness is defined by Allah as "Khalifa" on this earth which literally means the guardian or care taker: "And He it is who has made you successors (vicegerent) in the land." Man is distinguished as the only creature on this universe endowed with the intellect. The Quran says, "Man is gifted with intellect and the power of conceptualization". Thus man should utilize his power of intellect for preserving, protecting and promoting his fellow creatures. Islam also blames those people, who do not employ their intellectual faculties of thinking, reasoning and meditating, the Quran describes such people as "They have hearts where with they understand not, eyes where with they see not and ears where with they hear not they are like cattle may more misguided, for they are heedless of warning." The interaction between the creatures and the environment in their service to one another represents a symbolic situation supporting the doctrinal belief, in Islam, that it was God who created the interactive system and all of its elements should be nurtured and maintained. The Quranic verse says, "There is no moving creature on earth but its sustenance depends on God: He knows the time and place of its temporary deposit, all is in a clear record". In another

verse of the Quran says, “And whatever creature that is in the skies and that is in the earth and the angels bow down to Allah and they do not consider themselves great. They fear their Fosterer above them and do what they are commanded”. Thus all living things are partners to man in existence and submission to God, thus man must be merciful toward animals and strive to ensure the preservation of different species.

The Prophet also said: ‘Whoever kills a sparrow without any reason will be questioned by God on the Day of Judgment’. Hunting birds or animals for fun is prohibited. The prophet said, While a man was walking he felt thirsty, he went down a well and drank water from it. On coming out of it, he saw a dog panting and eating mud because of excessive thirst. The man said, 'This (dog) is suffering from the same problem as that of mine. So he (went down the well), filled his shoe with water, caught hold of it with his teeth and climbed up and watered the dog.

Islam highly recommends planting trees and urges people to protect them to the extent that planting a tree is considered as an act of worship, for which special prayer is recommended. The Holy Prophet said: ‘Unless you are compelled, do not cut down a tree! Before battles, the Prophet always gave instruction to his soldiers not to harm women, children, the elderly, and those who surrendered and not to destroy or burn farms and gardens.

There are a lot of Prophetic traditions advising us about the green environment. The Hadith says, “The world is green and beautiful and Allah has appointed you as His stewards over it, he sees how you acquit yourselves”. In another tradition Prophet (PBUH) said ‘whosoever cuts down a lotus tree will have his head put into the fires of hell by God. Abu Dawud was asked about the meaning of this Hadith. He said “If there is a tree in an open space which provides shade for wayfarers and animals, and someone cuts it down, then God will put that person's head in the fires of hell.

Tidiness and cleanliness are very important in Islam. In respect to cleanliness, the Prophet said ‘surely God is clean and loves the clean, so clean your courtyard’. He also said ‘Be clean as you can’. He also said ‘Cleanliness is next to godliness’. He also said ‘surely Islam is clean so being clean, because nobody can enter paradise except he who is clean’. The Prophet told his wife ‘Surely the clothes glorify, when they are dirty and unclean they do not glorify’. Imam Ali (a.s.) said ‘Tidy clothes eliminate grief and sorrow’. These hadiths show that cleanliness has effects on the soul as well.

A believer should be moderate in all aspects of his life including his use of nature. The Holy Prophet said ‘The best of affairs is the medium one’. He also said ‘Whoever is

moderate he will not become poor'. Indeed, the whole world is based on order and harmony (mizaan). Exceeding limits in using nature or natural resources is extravagance, which is considered as a major sin in Islam. The Qur'an says: And eat and drink and be not extravagant, surely He does not love the extravagant; and do not squander wastefully. Surely the squanderers are friends of satans and Satan is ever ungrateful to his Lord. In Islamic sources, two sins are distinguished. One is israaf or wasteful consumption and another sin is tabdhir or squandering. These two concepts are brought into play to change human behavior.

Conclusion

The root of Islamic environment practice is to be found in the Quran and the guidance (sunnah) of prophet Mohammad. 'Cleanliness is next to godliness' this is the message of the messenger of God (Rasulullah).

It also saves the environment from problems caused by waste pollution. Moreover, Islam urges people to clean their bodies, areas and their surrounding environment. Islam forbids all types of excesses, whether in drinking, eating and other activities. Protecting the nature and social environment are among the most important Islamic goals of existences, and explaining the sign of its care and concern with human welfare and natural protection, as well as, its adherence to the life system, mans well-being and his continuous existence. This is because the well-being of mans species and the living and nonliving things around him, like earth, water and air depends on its protection from pollution destruction.

Reference

- Dauverge peter, Historical Dictionary of Environmentalism, 2009, the scarecrow press.inc.Lanham , Maryland. Toronto. Plymouth, UK.
- Dr Mian Sadia Haleema, Dr Khan Janas, Dr Rahman ur Ata, Environmental ethics in islam , 2013, journal of culture, society and development- an open access international journal, vol 1.
- Environmental protection in Islamic shariah, Al- Balagh Foundation.
- Fox Warwick, Ethics and the built environment, 2000, ii new fetter lane, London.
- Gada yaseen Mohd, Environmental ethics in islam: principles and perspective,2002, world journal of Islamic history and civilization, vol 4.
- Hargrove. C Eugence, foundation of environmental ethics,1989,USA.
- Khalid. M.Fazlun ,Islam and the Environment, 2002, John Wiley & Sons, Ltd, Chichester

- Nasr, S H, Man and Nature, The Spiritual Crisis in Modern Man, 1990 Unwin Hyman, London.
- Omran soleimanpour Mahboubeh, The effect of educating environmental ethics on behavior and attitude to environment protection, ,2014, The European online journal of natural and social science, vol 3.
- Rahmin Abdul Binti Adibah, understanding Islamic ethics and its significance on the character building,2013, international journal of social science and humanity vol 3.

Brecht's Epic Theatre and Its Influence on Postmodern Theatre/Drama

Arif Rashid Shah
M.Phil English 2014-16
Department of English
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt Arts and commerce collage
Indore (M.P.)

"It is safe to predict that Brecht's work will become increasingly important for us; not only because it is great, but because it is exemplary as well." (Roland Barthes)

Abstract: As one of the most influential figures in theatre, Bertolt Brecht has stamped his legacy in the world theatre. His search for anew kind of theatre made his theatre a modern avant-garde whichhas left its traces in postmodern theatres. This paper tries toinvestigate Brecht's epic theatre as a modern avant-garde and itsinfluence in postmodern theatre. His epic theatre was in fact a revoltagainst the main stream modern theatre in which Brecht openlydeclares that theatre should be 'political.' Brecht's theatre was soinfluential that his theatre becomes reference to the postmoderntheatre.

Key words: epic theatre, Bertolt Brecht, avant-garde, postmodern, propaganda

Bertolt Brecht was a modern man. He grew as a dramatist in aworld where modern ideas were at war, trying to prove which one wasthe best. Liberalism was head to head with communism and capitalismwas facing the new born socialism. The war was complicated bysocialism's variants, one of which was the fierce social nationalismmanifested in Hitler's Nazism. During this period, as an artist Brecht wasfascinated by Marx's ideas, which put him in the socialist front.RolandBarthes even clearly calls him a Marxist (Worthen, 1993, p. 772).Brecht, however, although a Marxist and clearly anti-capitalist, didnot actually belong in either of the competing parties. In the rivalry ofclasses between the capitalist bourgeoisie and the socialist proletariat, hewas in favor of the proletariat. Nevertheless, he was not actually "amember of the proletariat fighting for the interest of his social class, butrather a self-exiled member of the bourgeoisie" (Bremer, 1976, p. 1). Inhis journal written when he was in exile in Denmark he wrote, " I greatlylike the proletariat belief in its final victory. But the proletariat closelyconnected belief in various other things it has been told, I find disturbing"(Brecht,1993, p. 6).

He had an antibourgeois attitude because of his deepdisappointment in his society's civilization after World War I. He agreedwith Marx that it was the capitalist that created the 'decadent' society.However, after World War II, although he shared the same basic Marxistideology with the communist party, he often had disagreements withthem. Brecht, says Willet, "was not the kind of figure who fitted all thateasy into any grouping" (Brecht, 1992, xi). As an artist, therefore, Brechtdid not serve any political "party." His aesthetics was anti-Aristoteliandramatic theatre, but it also "clashed with the (communist) aesthetics ofsocial realism" (Hubner, 1992, p. 139). He went to a different cuttingedge and developed his aesthetics with continuous experiments.

Brecht's theatre--which is known as epic-theatre--, was clearly anavant-garde. In fact it has been considered as one of the most importantand influential modern avant-garde theatres. His aesthetics has continuedto influence theatre until the present day, when the school of thought has

shifted from modernism to postmodernism. In this paper I shall examinehow Brecht's epic theatre influences postmodern theatres. To do so, firstof all, I will review how Brecht's epic theatre is considered a modernavant-garde. Then, I shall examine the ideas in his epic theatre thatinitiate the birth of postmodern theatres.

EPIC THEATRE AS A MODERN AVANT-GARDE

Brecht's epic theatre developed in a political upheaval. ElinDiamond noted that his theory was written over 30-year period(Worthen, 1993, p. 1284), ranging from pre- to post-World War II. Tounderstand it we need to review its historical background beforeexamining its theoretical foundation: the basic philosophy of epic theatre.Roland Barthes (in Worthen, 1993, p. 772) wrote, "to separate Brechtiantheatre from its theoretical foundation would be ... erroneous ...."

Examining its basic philosophy brings us to the understanding of Epictheatre's content. We will finally see how the content finally leads to thedevelopment of its form.Theatre was highly related to politics during Germany's politicalwarfare. This close relationship is due to the fact that theatre is a veryeffective media to gain influence. Theatre, according to Hubner (1992),is distinguished from the other arts in that it is institutional and social innature (p. 5). "These characteristics closely ally to politics, since theymake it possible for theatre to be used as an instrument of propaganda"(pp. 5-6). The socialists were really aware of this idea. In fact, they"believed in the idea that theatre should serve society" (Gerould inHubner, 1992).

Consequently, considering that the popular "bourgeois"realism carried the ideas of capitalism, efforts were made by "therevolutionaries" to battle such theatres.Before Hitler came to power in 1933, there were at least twodominant theatre ideologies in Germany that were against (western)bourgeois realism: the social realism and the emerging cult (Nazi's)theatre. These two ideologies at first looked alike in that they worked forthe revolution. They all had influential theatre figures whomade"experiments" to develop a new kind of theatre. "The avant-garde artistswere denounced as 'breeders' of the proletarian world revolution"(Zortman, 1984, p. 2). Brecht was supposedly one of them. However,since 1927 Hitler's National Socialist Party began to develop their ownkind of theatre, cult theatre, which was used to develop the idea of

Germany's 'pure' and 'genuine' culture (Zortman, 1984, p. 1). Thisparty "intended not only to curb the tide of bourgeois cultural dominancebut (also) to annihilate it" (p. 16).This cult theatre reached its peak when Nazi ruled the country."When Hitler came to power, the German theatre was flourishing, withnumerous wonderful buildings and high artistic level assured by anucleus of outstanding directors and actors" (Hubner, 1992, p. 90). This,however, did not benefit Brecht and his friends since they were just emptypropaganda in which creativity had to submit itself to political purposes.About this situation Zortman (1984) comments as follows:

> Fettered by their extreme ideology, the Nazi could never appreciate that all artistic creativity spring from individual human inspiration, … They could never apprehend that though he may criticize or even ridicule his culture, he basically respects even reveres that culture, if it is worthy, and thrives on his association with it by the bestowal of his talents (p. 7).

Aesthetically, Brecht suffered more since the Nazi "put a verydefinite stop to the development of such (epic and didactic) theatre"(Brecht in Worthen, 1993, p. 771). Brecht, being unable to work andhaving a Jewish wife, chose to avoid Hitler by living in other countries(starting from Denmark) where he continued to work on the epic theatre.After World War II, in 1948, Brecht went back to Berlin (EastGermany). However, although living in a country with Marxist ideology,he was not really welcome. Brecht's epic theatre had to face the socialistrealism. "Brecht's staging was accused of symbolism and naturalism atone and the same time, or still worse of not fitting within the norms ofuniform socialist-realist art with its simplified didacticism andidealization of reality" (Hubner, 1992, p. 139). This is

because eventhough Brecht had relatively the same ideology with the socialist-realist,he had a different approach to Marxism.

Unlike the socialist-realist, although his theatre was also political innature, Brecht's experiments with epic theatre were not primarily meantto gain power. With some other Germany's avantrde artists, Brechtstarted from the fact that "(early) in the nineteenth century theatre wasynonymous with the cheapest and artistically most dubious form ofentertainment. This state of affairs purred into action socially consciousindividuals who decided that they must provide the masses withrealistically worthwhile theatre" (Hubner, 1992, p. 106). Brecht did wantto see his society hange, but he was not involved in the proletariat'seffort to rule the country.To Hubner, Brecht's theatre differed from socialist-realist theatre inthat Brecht's was agitation theatre, while the socialist-realist's was apropaganda theatre. "Propaganda embellishes reality; agitation wants tochange it" (Hubner, 1992, p. 139). Hubner contends that Brecht'saesthetics got its root in 1920s under the distinct influence of Piscator andagitational theatre (p. 139). Szanto (1978), however, sees it differently.He believes that all theatre is propagandistic (p. 72). "The playpropagandizes an ideology without an awareness on the part of theplaywright or of the production that the presentation is implicitly ladenwith values which the play is propagandizing" (Szanto, 1978, p. 73). ToSzanto, even Aeschylus's or Shakespeare's plays contain propaganda!Szanto categorizes theatre's propaganda into three: agitationpropaganda, integration propaganda, and dialectical propaganda (p. 72).Quoting JaquesEllul he says, "(agitation propaganda) is most oftensubversive propaganda and has stamp of opposition. It is led by a partyseeking to destroy the government or the established order" (p. 73).

Socialist-realism falls into the first category. Integration propaganda is "aself-producing propaganda that seeks to obtain stable behavior, to adaptthe individual to his everyday life, to reshape his thoughts and behavior interms of permanent social setting" (Ellul in Szanto, 1978, p. 74). "Bourgeoisrealism" belongs to this kind of propaganda.Brecht's theatre, of course, falls into Szanto's third category. Thiscategory, in his opinion, "is the most difficult theatre to create" (p. 75).About this kind of theatre he further says:It is a theatre which attempts interactively and always clearly, the basic elements which comprisea confused social or historical situation. This is the science ofdialectic materialism, …, brought to dramatic presenttion" (p. 75).Using Szanto's view point we can finally see what Brecht's theatreis about. We can now trace epic theatre's basic philosophy (content) andits form.Using Guba& Lincoln's frame (in Denzin& Lincoln, 1994, pp.105-117), we can say that as a Marxian theatre Brecht's epic theatreviews reality as follows:Ontology

Historical realism—virtual reality shaped by social,political, cultural, economic … value; crystallized overtime.Epistemology knowledge (of reality) is value mediated and hence valuedependent.

Methodology dialectical 'Self' in the epic theatre, therefore, is shaped by any dominantsocial/political/ cultural/economic structures. No self is either natural orindependent. Unlike in classical plays—Greek plays especially--nosuffering is natural: it is always related to "structures that constrain andexploit human kind" (Guba& Lincoln in Denzin& Lincoln, 1994, p.113). 'Self' is value dependent, unlike in the relist's belief in whichsomeone can choose his own identity. One needs, first of all, to liberatehimself/herself from the oppressing structure.Changing/liberating 'self' requires more than just psychologicalanalysis. Brecht contends that there has to be "a transformation ofpsychological 'conflict' into historical condition" (Worthen, 1993, p.773) in theatre to liberate 'self.' To really understand the historicalcondition and to realize that a person is formed by the dominant valuehe has adopted unconsciously, a critical mind is needed. Therefore,neither the actor nor the spectator should be drawn into "simple empathy"(Brecht, 1992, p. 71), in which they usually try to identify themselves.In his explanation about epic theatre, Brecht proposes that theatreshould provide a process of alienation: the alienation that is necessary toall understanding (p. 71). Further, addressing the spectator Brecht gives acomparison between dramatic theatre's spectator and epic theatre'sspectator as follows:The dramatic theatre's spectator says: Yes, I have felt like thattoo—Just like me—It's only natural—It'll never change—Thesuffering of this man appals me, because they are inescapable—That's great art; it all seems the most obvious thing in the world—Iweep when they weep, I laugh when they laugh.

The epic theatre's spectator says: I'd never have thought it—that'snot the way—That's extraordinary, hardly believable—It's got tostop—The sufferings of this man appal me, because they areunnecessary—That's great art: nothing obvious in it—I laugh whenthey weep, I weep when they laugh (p. 71).To accommodate the contents, Brecht needed a new form."Shakespeare's great plays, the basis of our drama, are no longereffective" (Brecht, 1992, p. 20). He said further that those works werefollowed by three centuries in which the individual developed into acapitalist, and what killed them were not capitalism's consequences butcapitalism itself (p. 20). A new form, therefore, was to be developed; andthe birth of the epic theatre was inevitable. How is the form like? Brecht'stable below gives a clear general explanation about the form of the epic theatre.

DRAMATIC THEATRE EPIC THEATRE

plot narrativeimplicates the spectator in a stagesituationturns the spectator into an observer,butwears down his capacity for action arouses his capacity for actionprovide his with sensation forces him to take decisionsexperience picture of the worldthe spectator is involved insomethinghe is made to face somethingsuggestion argumentinstinctive feelings are preserved brought of the point of recognitionthe spectator is in the thick of it,shares the experiencethe spectator stands outside, studiesthe human being is taken for grantedthe human being is the object of theInquiryhe is unalterable he is alterable and able to altereyes on the finish eyes on the courseone scene makes another each scene for itselfgrowth montagelinear development in curvesevolutionary determination jumpsman as a fixed point man as a processthought determines being social being determines thoughtfeeling reason(p. 37).We can readily see that the table answers ontological, epistemologicaland methodological questions about epic theatre. Thecontrast between "thought determines being" and "social beingdetermines thought," for instance, is directly related to the ontological andepistemological contrast between positivism and Marxist critical theory.The table also clearly lists the characteristics of epic theatre's form.

Epic theatre uses narrative (not plot), episodic (not climactic) scenes,montage (not dramatic development), curves (not linear development), and scenes that jump (not cause and effect). These characteristics areneeded as methodological tools to achieve the desired purposes. Sinceplot tends to draw the spectator into "the story," Brecht introduces theuse of narratives, in which the spectator only becomes an observer.Moeover, it is presented episodically with scenes that can jump to anyplaces or time without the spectator's anticipation. This will make thespectator "expelled" from "the story" anytime s/he is drawn into it. Evenmore surprising, as a montage the scenes can be presented in a series ofnon-linear scenes in which the spectator could not but think about what isgoing on on stage.The stage should also be set differently. Since the spectator is madeaware that s/he sees a theatre, not representation of life, Brecht arguedthat "it is… necessary to drop the assumption that there is a forth wallcutting the audience off from the stage and the consequent illusion thatthe stage action is taking place in reality and without audience" (Brecht,1992, p. 136). Curtain, therefore, is no longer useful. The spectator seesthe set directly as s/he enters the theater. "Theatre remains theatre" hesaid (Worthen, 1993, p. 769), it's not a 'slice of life' on stage.There is also the need of having a different acting style. This isneeded to create "the alienation effect, … to make the spectator adopt anattitude of inuiry and criticism in his approach to the incident" (Brecht,1992, p. 136). On stage the actor presents a character, not

representhim/her. Brecht proposed, "The actor does not allow himself to becomecompletely transformed on the stage into the character he is portraying.He is not Lear, Harpagon, Scheiwk; he shows them" (Brecht, 1992, p.137).Brecht wanted the specttor to think. Theatre is "an intellectualprocess" (Boal in Birringer, 1991, p. 14) to Brecht. He didn't want thespectator to see life on stage, but to think about life. He wanted thespectator to see how the theatre "demystifies relationships betweenindividuals and institutions, individuals and individuals, institutions andinstitutions, so as to show first the nature of passion and economic andsocial laws, and second to demonstrate methods by which human beingscan control both themselves and their institutions" (Szanto, 1978, p. 76).

THE TRACES OF BRECHT IN POSTMODERN THEATRE

Going into the second half of the century, when politically the twodominant ideologies (liberalism/capitalism and socialism/communism)were engaged in a cold war; modern theatre, in terms of content andform, started to stagger like an old human being. It is most clearlydepicted in Beckett: the last of the modernist (Szanto, 1978). Brecht, bythen, had been an accepted member of the main-stream modern theatresand no longer considered an avant-garde. The form and content of epictheatre was commonly "quoted" in new experiments. The moderntheatre's experiments, however, showed "a kind of menopause ofmodernism (which) cohabits with a series of techniques that depictchange as the basic order of existence" (Szanto, 1978, p. 162).

Commenting on Beckett's works, Szanto further says that Beckett'sworks suggest the frightening implicitness that the late twentieth centuryconcept of art is in profound need of transformation (166). Now thatpost-modern ideas have started to surface, a new take based on theseideas in theatre has been inevitable.The table below (see Basuki, 2000), although an oversimplification,will help our understanding about the difference between modernism andpostmodernism that influences the theatre. It will also help frame ourtracing of postmodernism in Brecht's epic theatre.

Modernism Post-modernism

With a set ofpostmodern beliefs, however, fighting the dream of grand design withanother grand design, the old unity with a new unity, the old uniformitywith another uniformity, etc. is out of the picture since it is still the sameold modern way. To address the decaying society postmodernism doesnot suggest another system as what modern socialism/communism did.Instead, it "operates" in the existing society, trying to deal with humanproblems more locally and personally.In theatre we witness that the (postmodern) avant-garde has beentrying to do such efforts. We can see it, for example, in the works

ofKushner or Fornes although we can still see the presence of modernism insuch works. However, we can still justify it since an avant-garde does notcome out of the blue. We see that some of the "ingredients" are takenfrom modernism. Moreover, some modern works have been far ahead oftheir contemporaries since some artists have more far reaching visionthan the others. One of such artists is, of course, Bertolt Brecht. We shall,therefore, now examine epic theatre's contribution to post-moderntheatre.First of all we need toexamine it in terms of the contents.

To arguethat post modernism carries a single content is against its characteristics.Unlike epic theatre, postmodern theatre does not try to "oppose" (head tohead) anything. However, postmodern theatre also deals with social,political, and cultural problems. In facing the dominant social andpolitical order, for example, some postmodern avant-garde try to"empower" or "transform" the society that is immediate to it.. A goodexample of such theatre is Augusto Boal's "theatre of the oppressed."Boal, of course, owes a lot to Brecht. Even though he doesn't want to becalled as Brecht's postmodern successor (Jackson in Boal, 1992), hiswork clearly uses a lot of Brechtian principles such as "social beingdetermines thought" or "argument instead of suggestion" that have longbeen dealt with by Brecht.The biggest influence Brecht has made is, of course, in the aestheticform.

Theatre has become an art form "that is both narrative andnonlinear, both individual and collective—a theatre that avoids simplenaturalism and unheightened daily experience in order to present socialand individual reality on its stages" (Szanto, 1978, p. 165)—inpostmodernism. Some of the ideas behind it are clearly rooted in Brecht'sideas of episodic scenes in his effort to make the spectator think. Forexample, we can see how big Tony Kushner's *Angels in America Part I:Millenium Approaches* owes to Brecht's epic theatre. In fact, Brecht alsowrote plays specially written for bourgeois audience, one of wich is*Three Penny Opera* (Szanto, 1978). Such plays have surely influencedother writers even though they grow in the "bourgeois" realistic line.Another influence Brecht has strongly made is in the actor-spectatorrelationship. There has been postmodern plays that denies "the audience'spassive emotional identification with the central character of conventionalrealist or expressionist drama" (Birringer, 1991, p. 148) such as in MariaIrene Fornes' *FefuAnd Her Friends*. Although Fornes develops it morefrom the realist tradition, the idea of moving audience and letting them seethe play in different order (in act two)—which gives the idea that theaudience see a theatre (not life)--owes a lot to Brecht's epic theatre. Aneven further push on the involvement of the audience to "think" is doneby Augusto Boal. In his "forum

theatre" Boal even encourages thespectator to become spec-actor: they can go up the stage and replace theactor's role (Boal, 1992, pp. 17-36; 224-245).Still another influence Brecht has made, however faint, is theinterdiciplinary form of the theatre. Brecht, we all know, used poetry,songs, music, even dance in his epic theatre. He used them in a differentway from what dramatic opera did since in epic theatre the music, forexample, is not used just to heighten, proclaim, and illustrate the text butto set forth the text: the music takes the text for granted and takes up itsown attitude (Brecht, 1992).

More and more postmodern avant-garde usesuch interdisciplinary form.There are of course some characteristics of postmodern theatre thathave not beenconsidered by Brecht; devaluing the text, for example.Postmodern artists have come to the idea that a production has its owntext: a performance text. It does not simply mean a different interpretationof the text the way modern directors might think. It is a conscious"political choice" to convey an idea to the audience. For example, adirector might cast a red-haired white man as the husband of a blackwoman, and they have a blond son. With such a choice the performancepolitically says "in theatre race doesn't matter". With such choicestheatre is "forcing on to the audience an ever greater awareness that theevent on stage is theatre and not natural occurrence" (Szanto, 1978, p.172).

The consequence of devaluating the text is that there might not beany lasting plays in the future. Since the playwright is not "the initiator"of the theatre performance, a play might only serve a single theatreperformance and then disappear. "As history moves toward such atheatre, there may well be valuable dramatic experiences even if there areno lasting plays" (172). It may be one of the directions of postmoderntheatre.Brecht's plays have now been in the cannon. After all, it is a moderntheatre, which is no longer avant-garde nowadays. With its stronginfluence to the succeeding generation, however, his epic theatre is not'just another theatre' in the cannon. It will continue to influence theavant-garde,

"*not only because it is great, but because it is exemplary as well*."

Roland Barthes.

REFERENCES

Basuki, R. 2000. "Dances on the edges of modernism." *k@ta Journal, 2*, 1-8.

Birringer, J. 1991. *Theatre, theory, postmodernism*. Bloomington: Indiana University Press.

Boal, A. 1992.*Games for actors and non-actors*.Trans. Adrian Jackson. London: Routledge.

Brecht, B. 1992.*Brecht on theatre*.Ed. and trans. John Willett. New York: Hill

and Wang.

----------. 1993. *Bertoltbrecht journals*. Trans. Hugh Rorrison. Ed. John Willet. London: Methuen.

VOLUME 4, NUMBER 2, DECEMBER 2002: 135-147

English Department, Faculty of Letters, Petra Christian University

http://puslit.petra.ac.id/journals/letters/

Bremer, S. H. 1967. *Bertoltbrecht'shauspostille*. California: Stanford University Press.

Denzin, N. K. and Lincoln, Y. S. 1994.Eds. *Handbook of qualitative research*. Thousand Oaks: Sage Publication Inc.

Hubner, Z. 1992. *Theatre & politics*.Ed. and trans. Jadwiga Kosicka.Evaston, Illinois: Northwestern University Press.

Szanto, G. H. 1978. *Theatre & propaganda*. Austin: University of Texas Press.

Worthen, W.B. 1993. Ed. "Theatre for pleasure or theatre for instruction."*The Harcourt Brace Anthology of Drama*. Orlando: Harchourt Brace College Pub.767-771.

Zortman, B. 1984.*Hitler's theatre: ideological drama in Nazi Germany*. El Paso, Texas: Firestein Books.

Christian Environmental Ethics

Sikander Hussain Pandith
(Research scholar)
Department of philosophy
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts and commerce collage,
Indore (M.P.)

Abstract

Environmentalism advocates the preservation, restoration and/or improvement of the natural environment, and may be referred to as a movement to control pollution or protect plant and animal diversity. Environmental ethics is a subject which has gained a great deal of attention in recent decades, as scientia studies and experience have demonstrated the power man has to impact the world around him. In Christianity theocentric creation care is motivated by a desire to honor God as Creator and obey his commands in relation to creation, anthropocentric approaches elevate human well-being to the center of creation. As we honor our Creator God and obey God's commands, we act in ways that advance human well-being.

Key words: environment, theocentric, anthropocentric

Introduction

Environmentalism is a broad philosophy, ideology and social movement regarding concerns for environmental conservation and improvement of the health of the environment, particularly as the measure for this health seeks to incorporate the concerns of non-human elements. Environmentalism advocates the preservation, restoration and/or improvement of the natural environment, and may be referred to as a movement to control pollution or protect plant and animal diversity. For this reason, concepts such as a land ethic, environmental ethics, biodiversity, ecology and the biophilia hypothesis figure predominantly.

The natural environment is the major domain and the source of livelihood for all human and non-human living things. It is from the environment that we get the fundamental prerequisite and essentials for life such as air, water, food supplies, shelter and clothing. Again, it is within the boundaries of the natural environment that we obtain medicinal supplies to treat the many sicknesses and diseases that afflict and plaque humankind over the years. The environment is also the source of employment in the sectors such as agriculture, forestry, and mining, quarrying and fishing. The extent of proper attention given to the environment will determine its sustainability. Environmental ethics is a subject which has gained a great deal of attention in recent decades, as scientia studies and experience have

demonstrated the power man has to impact the world around him. The issue of climate change has received particular attention over recent years. Coupled with an awareness of our dependence on the natural world for air, water, and food, this has lead to a change in perspective when considering man's position with respect to nature. This change in perspective has been particularly felt in Christian circles, not least because a number of commentators have accused Christianity of being part of the problem.

White argued that the Judeo Christian position that, humanity was made after the image of transcended supernatural God who is completely separated from nature also extended same virtue to humanity to be separated from nature; and this theology paved way and endowed in humankind the unlimited power for the untrammeled exploitation of nature. White was saying that Christians must be blamed for they bear huge burden of guilt for the ecological crises we are facing due to their anthropocentric position. To him, Christian religious institutions must be reprimanded for their misplaced priorities, for neglecting or failing to have a clearly defined religious rationale for environmental care. White was in effect saying that the church fathers and the Bible itself support the human centered position as opposed to biocentrism or biospheric egalitarianism, and that is why the environmental elements are abused and treated harshly and unjustifiably to achieve man's goals and interest. White quoted the book of Genesis Chapter 1:26-28 for his argument.

However, subsequent research in the natural and social sciences as well as in the environmental humanities, challenge many of White's key assumptions. For instance Minter and Manning (2005) have indicated that the dynamic presence of humans within stable natural order, the pernicious metaphysical and moral implications of agriculture, the anti-ecological implications of democracy and the direct linkage between the world view of philosophical humanism and environmental destruction do lend some support to the fact that anthropocentric view is overstretched.

Aristotle maintains that nature has made all things specifically for the sake of man and that the value of non-human things in nature is merely instrumental. Anthropocentrism ideals see it unacceptable to articulate what is wrong with the cruel treatment of non-human animals, except that such treatment may lead to bad results for human kind.

Emmanuel Kant 'Duties to Animals and spirits' in lectures on Ethics for instance suggests that cruelty towards dogs might encourage a person to develop a character which would be desensitized to cruelty towards humans. From this standpoint, cruelty towards non-human animals would be instrumentally rather than intrinsically wrong. In addition, anthropocentrism often recognize some non-intrinsic wrongness of anthropogenic(human

caused environmental devastation) such a devastation will cause a damage to the wellbeing of humanity now and the future since our well being is tied to a sustainable development.(Passmore, 1974)

Thomas Aquinas (Summa contra Gentiles B.K. 3 PT. 2 Chap.112 also argued that non-human animals are ordered for man's use. All the moral obligations we have toward the environment are deduced from our direct duty to its human inhabitants. This simply means we have a very high anthropocentric reason to be non-anthropocentric or be completely biocentric in our daily thinking and actions. This is referred by experts as enlightened or prudential anthropocentrism.

The church is a prominent body in these matters because the central purpose underlying God's creation of this world are as follows: First, to give Him pleasure. Psalm 104: 31 says, 'the Lord rejoices in all He has made.' Revelation chapter 4:11 attest to it: Thou art worth oh Lord, to receive glory, honour and power for thou art created all things and for thy pleasure they are and were created. Second, to testify God's existence and power: The heavens tell of His glory, the skies display His marvelous craftsmanship (Ps. 19:1). Third, that God may be known (Rom. 1:19-20). Fourth, everything God created He said it was good. Obviously, the environmental crises raised early on are not consistent with the purpose of creation. This is the reason why the church must be awakened to demonstrate its environmental mandate. The church is the vehicle through which God can establish His purpose for creating this world because this purpose is not revealed to the circular world.

In this era of widespread ecological crises, Christian believers and communities concerned with the protection of God's good creation are asking with increasing urgency, "What is the relationship between Christianity and ecology?" Answering the question is difficult because it involves careful contemplation of how Christian faith, rooted in the foundational witness of Scripture, can effectively address contemporary issues such as global climate change, scarcity of fresh water, threats to biodiversity, degradation of the world's oceans, unsustainable agricultural practices, and deforestation. Does the Christian tradition have a uniquely Christian answer to these and similar ecological problems, and if so, what does its vision of creation care look like? The three books reviewed here Steven Bouma-Prediger's For the Beauty of the Earth: A Christian Vision for Creation Care; Keeping God's Earth: The Global Environment in Biblical Perspective; Between Heaven and Earth: Christian Perspectives on Environmental Protection. These three books articulate a theocentric environmental ethic that is scientifically informed and biblically inspired. Their

common goal is to promote a form of creation care that is both ecologically beneficial and uniquely Christian.

They accomplish this by applying the traditional Christian virtues of faith, hope, and love to how we understand the relationship between God and the earth as a part of God's creation. As they examine the history of Christian teaching and tradition, the authors emphasize faith in the inherent goodness of the created natural order, the cultivation of a loving connection with the ecological communities in which we exist, and a hope that life on earth will ultimately be redeemed from the degradation that currently threatens it. The ethic that emerges goes beyond mere concern for natural environments to include a commitment to the theological perspective that life on earth is a gift from God and recognition that humanity can potentially play a vital role, through our relationship with God, in support of the continued divine sustenance of God's good creation.

The aim of this study is to assess how far this change in perspective has penetrated into the thinking of the laity and local clergy, and has that teaching been reacted in the views of the congregation? These questions will be addressed through a survey conducted through several media.

Conclusion

Environment stands for surrounding. Environment has been defined 'the sum total of all conditions and influences that affect the development of organism'. This definition stressed of all totality of environment, implying that every organism including human beings has its own environment. Climate change has received particular attention over recent years. Coupled with an awareness of our dependence on the natural world for air, water, and food, this has lead to a change in perspective when considering man's position with respect to nature. This change in perspective has been particularly felt in Christian circles, not least because a number of commentators have accused Christianity of being part of the problem. All the moral obligations we have toward the environment are deduced from our direct duty to its human inhabitants. This simply means we have a very high anthropocentric reason to be non-anthropocentric or be completely biocentric in our daily thinking and action.

References:

- Alexander, Denis & Robert S. White Beyond Belief: Science, faith and ethical challenges Lion 2004.
- Berry, R.J. The care of creation: Focusing concern and action IVP 2000

- Brandt, Don (ed.) God's Stewards: the Role of Christians in Creation Care World Vision 2002.
- Burnie, David Earth watch: The young person's guide to protecting the planet Dorking Kindersley 2001.
- *Beauty of the Lord: Awakening the Senses*. Environmental Theology. Vol. 2. Atlanta, Ga.: John Knox Press, 1988.
- *Baptized into Wilderness: A Christian Perspective on John Muir*. Environmental Theology. Vol. 1. Atlanta, Ga.: John Knox Press, 1987.
- Hessel,D.T and Ruether,R.R Christianity and Ecology:Seeking the Well-Being of Earth and Humans. Harvard: Harvard University Press, (eds.) (2000)
- *The Bible and Ecology: Rediscovering the Community of Creation*. Waco, TX: Baylor University Press, 2010.
- *The Sacred Universe: Earth, Spirituality, and Religion in the Twenty-first Century*. Ed. Mary Evelyn Tucker. New York: Columbia University Press, 2009.